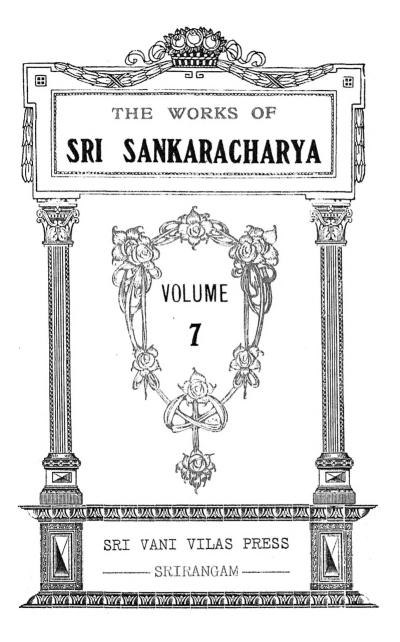


परिम्रहण सं 10.369 मन्थालय, क. उ. ति. शि. संस्थान { सारनाथ, वाराणसी





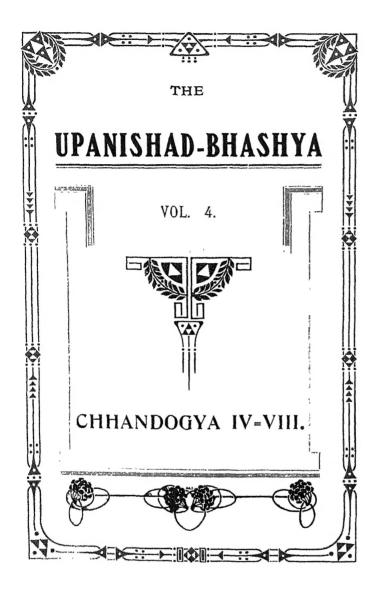
| | | | 1 | AGE. |
|---------------------|-------|-------|-----|------|
| CHITANDOGYOPANISHAI | о Вил | SHYA. | 201 | 572 |
| CHAPTER 4 | | | | 201 |
| CHAPTER 5 | | | • | 257 |
| CHAPTER 6 | | | | 333 |
| CHAPTER 7 | | | | 413 |
| CHAPTER 8 | | | | 469 |

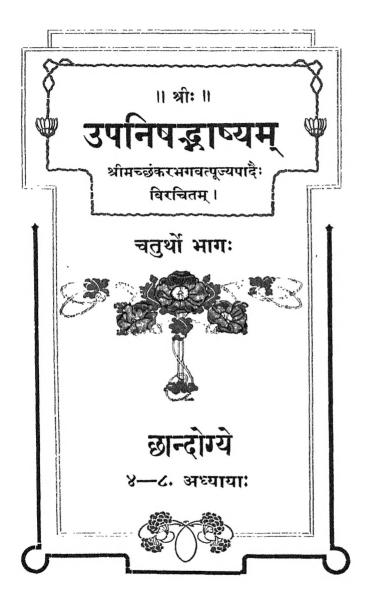




| · · | | | पृष्ठम् |
|------------------------|-----|-------|---------|
| छान्दोरयोपनिषद्भाष्यम् | | २० | ०—५७२ |
| चतुर्थोऽध्याय: | ••• | • • • | २०१ |
| पञ्चमोऽध्याय: | | • • • | २५७ |
| षष्ठोऽध्याय: | ••• | ••• | ३३३ |
| सप्तमोऽध्याय: | ••• | ••• | ४१३ |
| अष्टमोऽध्याय: | ••• | ••• | ४६९ |







़॥ श्रीः॥

॥ विषयानुक्रमणिका ॥

| | Principal and the second secon | | |
|---|--|-------|---------|
| | | | पृष्ठम् |
| 4 | तुर्थोऽध्यायः २० | , 8 | २५६ |
| | जानश्रुतेईंसोक्त्या रैक्कनिकृटे क्षचृप्रेरणम् | • • • | २०३ |
| | रैकाय जानश्रुतेर्घनादिदानम् | | २०९ |
| | आख्यायिकासहिता सर्वोपलब्धिफला संवर्गाविद्या | • • • | २१३ |
| | सत्यकामेन ब्रह्मचर्यार्थं गौतमस्य गोचारणम् | | २१९ |
| | बलीवर्दस्य सत्यकामाय ब्रह्मणः प्रथमपादोक्तिः | **** | २२३ |
| | अग्नेः सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयपादोक्तिः | | २२५ |
| | इंसस्य सत्यकामाय तृतीयपादोक्तिः | ••• | २२७ |
| | मद्गोः सत्यकामाय चतुर्थपादोक्तिः | | २२९ |
| | सत्यकामस्य गुरुकुलं प्रति पुनर्गमनम् | **** | २३१ |
| | उपकोसलस्य आत्मविद्या | | २३३ |
| | गाईपत्याभिविद्या | | २३८ |
| | अन्वाहार्थपचनाग्निविद्या | ••• | २४० |
| | s. u. iv. 0 | | |

[२]

| आहवनीयाग्निविद्या | | | २४१ |
|--|---------------|-------|-------|
| अग्नीनामुपकोसलं प्रति वचनम् | | | २४२ |
| अक्षिपुरुषोपासना | • | | २४४ |
| यज्ञोपासना | | | २४९ |
| व्याहृत्युपासना | | | २५२ |
| पञ्चमोऽध्यायः | •••• | २५७ | ३३२ |
| ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना, इन्द्रियाण | ं विवादश्च | | २५९ |
| प्राणस्य अन्नवासोदृष्ट्या उपासनम् | | | २६८ |
| पञ्चाग्निविद्यार्थं श्वेतकेतुप्रवाहणसंवा | द: | ••• | २७६ |
| लोकरूपामिविद्या | | | २८२ |
| पर्जन्यरूपामिविद्या | | | २८५ |
| पृथिवीरूपामिविद्या | | | २८६ |
| पुरुषरूपामिविद्या | | • • • | २८७ |
| योषिद्रूपाभिविद्या | | • • • | २८८ |
| योनिद्वारा जातस्य पुनः पुनर्घट | ीयन्त्रवद्गमन | ।गम- | |
| नाय कर्म कुर्वतो मृतस्याग्नये | हरणम् | ••• | २९० |
| आत्मविद्यया उत्तरमार्गः कर्मणा व | (क्षिणमार्गः | • • • | २९२ |
| औपमन्यवादिभिः पञ्चभिरुद्दालके | न सहितै: | कैके- | |
| यस्य संवादः क आत्मा किं ब्र | ह्मेति | | 3 9 9 |

[३]

| औपमन्यवककेयराजसंवादः | | ३१६ |
|--|-------|------|
| सत्ययज्ञकैकेयराजसंवाद: | ••• | ३१८ |
| इन्द्र युम्नकैकेयराजसंवादः | • • • | ३१९ |
| जनकैकेयसंवाद: | | ३२० |
| बु डिलकेकेयसंवादः | | ३२१ |
| उदालककेकेयसंवाद: | | ३२२ |
| सर्वे: सह कैकेयसंवादः | • • • | ३२३ |
| विदुषोऽग्निहोत्रसिद्ध्यर्थे प्राणाय स्वाहेति प्रथमाहुतिः | कथनम | (३२६ |
| व्यानाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिकथनम् | • • • | ३२८ |
| अपानाय स्वाहेति तृतीयाहुतिकथनम् | •••• | ३२८ |
| समानाय स्वाहेति चतुर्थोहुतिकथनम् | •••• | ३२९ |
| उदानाय स्वाहेति पञ्चमाहुतिकथनम् | • • • | ३२९ |
| एवंविदोऽग्निहोत्रफलम् | ••• | ३३० |
| षष्ठों ऽध्यायः ३३ | ₹— | ४१२ |
| श्वेतकेतमुपदिश्रत्यारुणिः | • • • | ३३५ |
| अन्यपक्षनिरसनपूर्वकं सर्वस्य जगतः सन्मात्रत्वकथ | नम् | ३४१ |
| भूतसूक्ष्मात्प्रपञ्चसृष्टि क्रमः | | ३५२ |
| एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् | • • • | ३५७ |
| अन्नाद्यशितं त्रेधा भवतीति | | ३६३ |

[8]

| | मक्ष्यमाणस्याणीयभागो मनआदिभवतीति | • • • | ३६६ |
|---|--|-------|-----|
| | षोडशकलपुरुषोपदेशः | | ३६८ |
| | <u>सुष</u> ुंतिकालस्थित्युपदेशः | | ३७३ |
| | सुषुष्त्यादौ सत्संपन्नानां सत्संपत्तिज्ञानाभावे दृष्टान्तः | • • • | ३८६ |
| | नदीदृष्टान्तेनोपदेशः | | ३८९ |
| | बृक्षदृष्ठान्तेनोपदे शः | | ३९१ |
| | न्यग्रोधफलदृष्टान्तेनोषदेश: | • • • | ३९४ |
| | ळवण द्यान्तेनोपदेशः | • • • | ३९६ |
| | गन्धारदेशादानीतपुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः | | ३९९ |
| | मुमूर्षुपुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः | • • • | ४०४ |
| | चौरपरग्रुग्रहणदृष्टान्तेनोपदेश: | ••• | ४०६ |
| ₹ | ाप्तमोऽध्यायः ४१ | ₹— | ४६८ |
| | नारदाय सनत्कुमारोपदेशः | | ४१५ |
| | वाक् नाम्नो भूयसीति | • • • | ४२१ |
| | मनो वाचो भूय इति | • • • | ४२३ |
| | संकल्पो मनसो भूयानिति | | ४२५ |
| | चित्तं संकल्पाद्भ्य इति | • • • | ४२९ |
| | ध्यानं चित्ताद्र्य इति | •••• | ४३१ |
| | विज्ञानं ध्यानाद्भ्य इति | • • • | ४३३ |
| | | | |

[4]

| वलं विज्ञानाद्भ्य इति | ४३५ |
|--|-----|
| अन्नं बलाद्भ्य इति | ४३७ |
| आप अन्नाद्भ्यस्य इति | ४३९ |
| तेज अद्यो भूय इति | ४४१ |
| आकाशस्तेजसो भूयानिति | ۲۲۶ |
| सारणम् आकाशाद्भ्य इति | ४४४ |
| आशा स्मरणाद्भ्यसीति | ४४६ |
| प्राण आशाया भ्यानिति | ४४९ |
| सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ४५३ |
| विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ४५४ |
| मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ४५५ |
| श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ४५६ |
| निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितब्येत्युपदेशः | ४५६ |
| कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ४५७ |
| सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ४५७ |
| भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपदेशः | ४५८ |
| भूमः स्वरूपकथनम् | ४५९ |
| सर्वत्र स एवेत्युपदेशः | ४६२ |
| एवंविदः फलोपदेशः | ४६५ |

s. u. iv. 00

[६]

| अष्टमोऽघ्यायः ४ | ३६९—५५३ |
|---|------------|
| दहरपुण्डरीके ब्रह्मोपासनम् | ४७१ |
| दहरब्रह्मोपासनफलम् | ४८१ |
| असत्यापिद्दितसत्योपासनं सत्यमिति नामाक्षरोप | ासनं च ४८४ |
| सेतुरूपात्मोपासना | ४९० |
| यज्ञादौ ब्रह्मचर्यदृष्टिः | ४९३ |
| हृदयनाडीसूर्यरिमपथोपासना | ٠٠. ५٥٥ |
| इन्द्रविरोचनयोः प्रजापतिसकाशं गमनम् | ५०६ |
| इन्द्रविरोचनयोरुदशरावे आत्मदर्शनम् | ५१२ |
| इन्द्रस्य पुनरागमनम् | ५१९ |
| इन्द्राय स्वप्नपुरुषोपदेशः | ५२३ |
| सुषुप्तपुरुषोपदेश: | ५२७ |
| मर्त्यशरीराद्युपदेशः | ५३१ |
| रयामाच्छबलमिति जपार्थमन्त्र : | ५४७ |
| कारणत्वेन आकाशाख्यब्रह्मोपदेशः | ५४९ |
| परम्परागतमात्मज्ञानमित्युपदेश: | ٠٠. ५५٩ |



॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥



Courtshunker Sunerwate.

युप्राणयोद्मह्मणः पाददृष्ट्यध्या-मः पुरस्ताद्वणितः । अथेदानीं तयोः साक्षाद्वह्मत्वेनोपास्यत्वायोत्तरमारभ्य-ते । सुखावबोधार्था आख्यायिका, विद्यादानप्रहणविधिप्रदर्शनार्थां च । श्रद्धान्नदानानुद्धतत्वादीनां च विद्या-

प्राप्तिसाधनत्वं प्रदर्शते आख्यायिकया-

जानश्रुतिह पौत्रायणः श्रद्धादेयो ब-हुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वेत आवस्थान्मापयांचके सर्वेत एव मेऽन्न-मत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

जानश्रुति: जनश्रुतस्यापत्यम् । ह ऐतिह्यार्थः । पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः स एव श्रद्धादेयः श्रद्धापुरःसरमेव त्राह्मणादिभ्यो देयमस्येति श्रद्धादेयः । बहुदायी प्रभूतं दातुं शीलमस्येति बहु-दायी । बहुपाक्यः वहु पक्तव्यमहन्यहनि गृहे यस्यासौ बहुपा- क्यः ; भोजनार्थिभ्यो बह्वस्य गृहेऽन्नं पच्यत इत्यर्थः । एवं-गुणसंपन्नोऽसौ जानश्रुतिः पौत्रायणो विशिष्टे देशे काले च कस्मिश्चित् आस बभूव । म ह सर्वतः सर्वासु दिश्च प्रामेषु नगरेषु आवसथान एत्य वसन्ति येष्विति आवसथाः तान मापयांचके कारितवानित्यर्थः । सर्वत एव मे मम अन्नं तेष्वावसथेषु वसन्तः अत्स्यन्ति भोक्ष्यन्त इत्येवमभिप्रायः ॥

अथ हश्सा निशायामितपेतुस्तहै-वश् हश्सोहश्समम्युवाद हो होऽिय भक्षाक्ष भक्षाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षी-स्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २॥

तत्रैवं सित राजिन तिस्मिन्धर्मकाले हर्म्यतलस्थे अथ ह हंसा निशायां रात्रौ अतिपेतुः। ऋषयो देवता वा राज्ञो-ऽत्रदानगुणैस्तोषिताः सन्तः हंसरूपा भूत्वा राज्ञो दर्शनगो-चरे अतिपेतुः पिततवन्तः। तत् तिस्मिन्काले तेषां पततां हंसानाम् एकः पृष्ठतः पतन अग्रतः पतन्तं हंसमभ्युवाद अभ्युक्तवान— हो होयीति भो भो इति संबोध्य भल्लाक्ष भल्लाक्षेत्याद्रं दर्शयन् यथा पश्य पश्याश्चर्यमिति तद्वत्; भ-लाक्षेति मन्ददृष्टित्वं सूचयन्नाह; अथवा सम्यग्नह्मदर्शना- भिमानवत्त्वात्तस्य असक्रदुपालब्धस्तेन पीड्यमानोऽमर्षितया तत्स्च्यित भहाक्षेति; जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं तुल्यं दिवा ग्रुलोकेन ज्योतिः प्रभास्वरम् अन्नदानादिजनितप्रभावजम् आततं व्याप्तं ग्रुलोकस्पृगित्यर्थः; दिवा अहा वा समं ज्योतिरित्येतत्; तन्मा प्रसाङ्क्षीः सञ्जनं सिक्तं तेन ज्योति-षा संबन्धं मा कार्षीरित्यर्थः । तत्प्रसञ्जनेन तत् ज्योतिः त्वा त्वां मा प्रधाक्षीः मा दहित्वत्यर्थः; पुरुषव्यत्ययेन मा प्रधाक्षीदिति ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेत-त्सन्त १ सयुग्वानमिव रैकमात्थेति यो नु कथ १ सयुग्वा रैक इति ॥ ३ ॥

तम् एवमुक्तवन्तं परः इतरोऽप्रगामी प्रत्युवाच— अरे निकृष्टोऽयं राजा वराकः, तं कमु एनं सन्तं केन माहात्म्येन युक्तं सन्तमिति कुत्सयति एनमेवं सबहुमानमेतद्वचनमात्थ रैकमिव सयुग्वानम्, सह युग्वना गन्त्र्या वर्तत इति सयुग्वा रैकः, तिमव आत्थ एनम्; अननुरूपमस्मिन्नयुक्तमीदृशं वक्तं रेक इवेत्यभिप्रायः । इत्रस्थ आह — यो नु कथं त्वयोच्यते सयुग्वा रैकः। इत्युक्तवन्तं भहाक्ष आह— श्रृणु यथा स रैकः॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संय-

न्त्येवमेन ५ सर्वे तद्भिसमैति यत्किच प्रजाः साधु कुर्वेन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद् स मयैतदुक्त इति॥ ४॥

यथा छोके कृताय: कृतो नामायो सूतसमये प्रसिद्धश्चतुरङ्कः, स यदा जयित सूते प्रवृत्तानाम्, तस्मै विजिताय तदथिमितरे त्रिद्धेकाङ्का अधरेयाः त्रेताद्वापरकिलनामानः संयिन्त संगच्छन्तेऽन्तर्भविन्तः; चतुरङ्के कृताये त्रिद्धेकाङ्कानां
विद्यमानत्वात्तदन्तर्भवन्तीद्धर्थः। यथा अयं दृष्टान्तः, एवमेनं रैकं कृतायस्थानीयं त्रेताद्ययस्थानीयं सर्व तद्भिसमैति
अन्तर्भविति रैके। किं तत् श्यितंकच लोके सर्वाः प्रजाः
साधु शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति, तत्सर्व रैकस्य धर्मेऽन्तर्भविति, तस्य च फले मर्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भवतीद्धर्थः।
तथा अन्योऽपिकिदेचत् यः तत् वेद्यं वेद। किं तत् श्यत् वेद्यं
सः रैकः वेदः तद्वेद्यमन्योऽपि यो वेद, तमिष सर्वप्राणिधर्मजातं तत्फलं च रैकिमवाभिसमैतीत्यनुवर्तते । मः
एवंभूतः अरैक्वोऽपि मया विद्वान् एतदुक्तः एवसुक्तः, रैक्ववत्स एव कृतायस्थानीयो भवतीत्यभिप्रायः॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशु-श्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवा- चाङ्गारे ह मयुग्वानमिव रैकमात्थेति यो नु कथ एसयुग्वा रैक इति ॥ ५ ॥ यथा कृतायविजितायाघरेयाः संय-न्त्येवमेन एसर्व तद्भिसमैति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्म वेद स मयैतद्क्त इति ॥ ६ ॥

तदु ह तदेतदीहशं हंसवाक्यमात्मनः कुत्सारूपमन्यस्य विदुषो रैकादेः प्रशंसारूपम उपशुश्राव श्रुतवान्हर्म्यत्त्रस्थो राजा जानश्रुतिः पौत्रायणः। तच्च हंमवाक्यं म्मग्नेव पौनः-पुन्येन रात्रिशेषमितवाह्यामास । ततः स वन्दिभी राजा म्तुतियुक्ताभिर्वाग्भः प्रतिबोध्यमानः उवाच क्षन्तारं संजिन्हान एव शयनं निद्रां वा परित्यज्ञनेव, हेऽङ्ग वत्म अरे सयुग्वानमिव रैकमात्थ किं माम ; स एव म्तुत्यहों नाहमित्यभिप्रायः। अथवा सयुग्वानं रैकमात्थ गत्वा मम तदिहक्षाम। तदा इवशब्दोऽवधारणार्थोऽनर्थको वा वाच्यः। स च क्षत्ता प्रत्युवाच रैक्वानयनकामो राज्ञोऽभिप्रायज्ञः— यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति, राज्ञा एवं चोक्तः आनेतुं तिच्छं ज्ञातु-मिच्छन् यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इत्यवोचन्। स च म-ङाक्षवचनमेवावोचन् तम्य म्मरन्॥

स ह क्षत्तान्विष्य नाविद्मिति प्रत्ये-याय त ५ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेष-णा तदेनमच्छेति ॥ ७ ॥

स ह क्षत्ता नगरं प्रामं वा गत्वा अन्विष्य रैक्वं नाविदं न व्यज्ञासिषमिति प्रत्येयाय प्रद्यागतवान् । तं होवाच क्षत्ता-रम्— अरे यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद एकान्तेऽरण्ये नदीपु-छिनादौ विविक्ते देशे अन्वेषणा अनुमार्गणं भवति, तत् तत्र एनं रैक्वम् अच्छं ऋच्छ गच्छ, तत्र मार्गणं कुर्वित्यर्थः ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाण-मुपोपविवेदा तथ् हाभ्युवाद त्वं तु भग-वः सयुग्वा रैक इत्यहथ् ह्यरा३ इति ह प्रतिज्ञे स ह क्षत्ताविद्मिति प्रत्येयाय॥

इत्युक्तः क्षत्ता अन्विष्य तं विजने देशे अधस्ताच्छकटख गन्च्याः पामानं खर्जू कषमाणं कण्डूयमानं दृष्ट्वा, अयं नूनं सयुग्वा रैंक इति उप समीपे उपविवेश विनयेनोपिविष्ट-वान् । तं च रैंकं ह अभ्युवाद उक्तवान । त्वमासि हे भगवः भगवन् सयुग्वा रैंक इति । एवं पृष्टः अहमस्मि हि अरा३ अरे इति ह अनादर एव प्रतिजज्ञे अभ्युपगतवान— स तं विज्ञाय अविदं विज्ञातवानस्मीति प्रत्येयाय प्रत्यागत इत्यर्थः ॥ इति प्रथमखण्डभाष्यम्॥

द्वितीयः खण्डः॥

तदु ह जानश्चितिः पौत्रायणः षद्-द्यातानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तथ् हाभ्युवाद ॥ १ ॥

तत् तत्र ऋषेर्गार्हस्थ्यं प्रति अभिप्रायं बुद्धा धनार्थितां च उ ह एव जानश्रुति: पौत्रायण: षट्शतानि गवां निष्कं क-ण्ठहारम् अश्वतरीरथम् अश्वतरीभ्यां युक्तं रथं तदादाय धनं गृहीत्वा प्रतिचक्रमे रैकं प्रति गतवान् । तं च गत्वा अभ्युवाद ह अभ्युक्तवान ॥

रैकेमानि षद्शतानि गवामयं निष्को-ऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देव-ना श्वाधि यां देवतामुपास्स इति ॥२॥

हे रैक गवां षट् शतानि इमानि तुभ्यं मया आनीता-नि, अयं निष्कः अश्वतरीरथश्चायम् एतद्धनमाद्दस्व । भग-वोऽनुशाधि च मे माम् एताम्, यां च देवतां त्वमुपास्से तद्देवतोपदेशेन मामनुशाधीत्यर्थः ॥ तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां नि-ष्क्रमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिच-क्रमे ॥ ३ ॥

तम् एवमुक्तवन्तं राजानं प्रत्युवाच परो रैकः। अहेत्ययं निपातो विनिष्रहार्थीयोऽन्यत्र, इह त्वनर्थकः, एवशब्दम्य पृथक्प्रयोगात्। हारेत्वा हारेण युक्ता इत्वा गन्त्री
सेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु तवैव तिष्ठतु न मम
अपयोप्तेन कर्मार्थमनेन प्रयोजनमित्यभिप्रायः। हे शूद्रेति—
नतु राजासौ क्षत्तृसंबन्धात्, स ह क्षत्तारमुवाचेत्युक्तम्;
विद्याप्रहणाय च ब्राह्मणसमीपोपगमात् शूद्रस्य च अनिधकारात् कथमिदमननुरूपं रैकेणोच्यते हे शूद्रेति। तत्राहुराचार्याः—हंसवचनश्रवणात् शुगनमाविवेशः; तेनासौ शुचा
श्रुत्वा रैक्वस्य महिमानं वा आद्रवतीति ऋषिः आत्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयन् शूद्रेत्याहेति। शूद्रवद्वा धनेनैव एनं विद्याप्रहणायोपजगाम न च शुश्रूषया। न तु जात्यैव शूद्र इति।
अपरे पुनराहुः अल्पं धनमाहृतमिति रुषेव एनमुक्तवान्
शूद्रेति। लिङ्कं च वह्वाहरणे उपादानं धनस्वेति। नदु ह

ऋषेर्मतं ज्ञात्वा पुनरेव जानश्रुतिः पौत्नायणो गवां सहस्रम-धिकं जायां च ऋषेरभिमतां दुहितरमास्ननः तदादाय प्रति-चक्रमे क्रान्तवान् ।।

त १ हाभ्युवाद रैकेद १ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यसिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्ण त्रुवाचा जहारेमाः शृद्धानेनेव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैकपणी नाम महावृषेषु यत्रास्मा उ-वास स तस्मै होवाच ॥ ५॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

रैक्व इदं गवां सहस्रम् अयं निष्कः अयमश्वतरीरथः इयं जाया जायार्थे मम दुहिता आनीता अयं च प्रामः यास्मिन्नास्से तिष्ठसि स च त्वद्थें मया कल्पितः ; तदेतत्सर्वमादाय अनु-शाध्येव मा मां हे भगवः, इत्युक्तः तस्या जायार्थमानीताया राज्ञो दुहितुः ह एव मुखं द्वारं विद्याया दाने तीर्थम् उपो-दृह्णन् जानन्नित्यर्थः । 'ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रिय: । विद्यया वा विद्यां प्राह तानि तीर्थानि षण्मम इति विद्याया वचनं विज्ञायते हि। एवं जानन् उपो-द्रह्वन् उवाच उक्तवान् । आजहार आहृतवान् भवान् इमाः गाः यञ्चान्यद्धनं तत्साध्विति वाक्यशेषः । शुद्रेति पूर्वोक्तानुकृतिमालं न तु कारणान्तरापेक्षया पूर्ववत् । अने-नैव मुखेन विद्याप्रहणतीर्थेन आलापयिष्यथा: आलापय-सीति मां भाणयसीत्यर्थ:। ते ह एते प्रामा रैक्कपर्णा नाम विख्याता महावृषेषु देशेषु यत्र येषु प्रामेषु उवास उषित-वान रैक:, तानसौ श्रामानदादस्मै रैक्वाय राजा। तस्मै राज्ञे धनं दत्तवते ह किल उवाच विद्यां सः रैक्वः ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम्॥



तृतीयः खण्डः॥

वायुर्वाव संवर्गी यदा वा अग्निरुद्धा-यति वायुमेवाण्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाण्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायु-मेवाण्येति ॥१॥

वायुर्वाव संवर्गः वायुर्वाह्यः, वावेत्यवधारणार्थः, संवर्जनात्संग्रह्णात्संग्रसनाद्वा संवर्गः; वक्ष्यभाणा अग्न्याद्या
देवता आत्मभावमापाद्यतीत्यतः संवर्गः संवर्जनाख्यो गुणो
ध्येयो वायोः, कृतायान्तर्भावदृष्टान्तात् । कथं संवर्गत्वं
वायोगिति, आह——यदा यिम्मिन्काले वै अग्निः उद्वायित उद्वामनं प्राप्नोति उपशाम्यति, तदा असौ अग्निः वायुमेव अप्येति वायुम्वाभाव्यमपिगच्छिति । तथा यदा सूर्योऽस्तमिति,
वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।
ननु कथं सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपावस्थितयोः वायो अपिगमनम् ? नैष दोषः, अस्तमने अदर्शनप्राप्तः वायुनिमित्तत्वात् ; वायुना हि अस्तं नीयते सूर्यः, चल्लनस्य वायुकार्यत्वात् । अथवा प्रलये सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजोरूपयोर्वायावेव अपिगमनं स्यात् ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्यवैतान्सर्वान्संवृङ्क इत्यधिदैवतम्॥

तथा यदा आप: उच्छुष्यन्ति उच्छोषमाप्नुवन्ति, तदा वायुमेव अपियन्ति । वायुर्हि यस्मादेव एतान् अग्न्याद्या-न्महाबस्नान् संवृङ्को, अतो वायुः संवर्गगुण उपास्य इस्पर्थः । इस्पधिदैवतं देवतासु संवर्गदर्शनमुक्तम् ॥

अथाध्यातमं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्विपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राण् अोत्रं प्राणं मनः प्राणो हो-वैतान्सर्वान्संवृङ्क इति ॥ ३॥

अथ अनन्तरम् अध्यात्मम् आत्मिनि संवर्गदर्शनिमदमु-च्यते । प्राण: मुख्यः वाव संवर्गः । स पुरुषः यदा य-स्मिन्काले खिपिति, तदा प्राणमेव वागप्येति—वायुमिवाग्निः। प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोतं प्राणं मनः प्राणो हि यस्मादेवैता-न्वागादीन सर्वान्संबृङ्क इति ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवगौं वायुरेव दे-वेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥ तो वा एतौ द्वौ संवगौं संवर्जनगुणौ—-वायुरेव देवेषु संवर्गः प्राणः प्राणेषु वागादिषु मुख्यः ॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिक्रतारि-णं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्म-चारी विभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः॥५॥

अथ एतयो: स्तुत्यर्थम् इयमाख्यायिका आरभ्यतं । हेत्यैतिह्यार्थः । शौनकं च शुनकखापत्यं शौनकं कापेयं किपगोत्रमिभव्रतारिणं च नामत: कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिं भोजनायोपिवृष्टौ परिविष्यमणौ सूपकारै: ब्रह्मचारी ब्रह्मवि-च्छौण्डो बिभिक्षे भिक्षितवान । ब्रह्मचारिणो ब्रह्मविन्मानि-तां बुद्धा तं जिज्ञासमानौ तम्मै उ भिक्षां न ददतु: न दत्तवन्तौ ह किमयं वक्ष्यतीति ॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपद्यान्ति मत्यी अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतद्त्रं तस्मा एतन्न द-त्तमिति॥ ६॥

स ह उवाच ब्रह्मचारी महात्मनश्चतुर इति द्वितीयाबहु-वचनम् । देव एक: अग्न्यादीन्वायुर्वागादीन्प्राण: । क: सः प्रजापितः जगार प्रसितवान् । कः स जागरेति प्रश्न-मेके । भुवनस्य भवन्यस्मिन्भूतानीति भुवनं भूरादिः सर्वो छोकः तस्य गोपाः गोपायिता रक्षिता गोप्तेयर्थः । तं कं प्रजापितं हे कापेय नाभिपद्यन्ति न जानन्ति मर्त्याः मग-णधर्माणोऽविवेकिनो वा हे अभिप्रतारिन् बहुधा अध्यात्मा-धिदैवताधिभूतप्रकारैः वसन्तम् । यस्भै वै एतत् अहन्यहिन अन्नम् अदनायाह्नियते संन्कियते च, तस्मै प्रजापतये एत-दन्नं न दत्तमिति ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाः हिरण्यदः प्रूपे बभसोऽनसूरिर्महान्तम-स्य महिमानमाहुरनद्यमानो यद्नन्नम-त्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेद्मुपास्महे द्रत्समे भिक्षामिति॥ ७॥

तदु ह ब्रह्मचारिणो वचनं शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः मनसा आलोचयन् ब्रह्मचारिणं प्रत्येयाय आजगाम । गत्वा च आह यं त्वमवोचः नाभिपश्यन्ति मर्त्या इति, तं वयं पश्यामः । कथम् १ आत्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्य । किंच देवानामग्न्यादीनाम् आत्मिन संहृत्य प्रसित्वा पुनर्जनियता उत्पाद्यिता वायुक्त्पेणाधिदैवतमग्न्यादीनाम् । अध्यात्मं च प्राणक्त्पेण वागादीनां प्रजानां च जिनता । अथवा आत्मा देवानामिम्नवागादीनां जिनता प्रजानां स्थावग्रजंगमानाम् । हिरण्यदंष्ट्रः अमृतदंष्ट्रः अभम्रदंष्ट्र इति यावत् । बभसो भक्षणज्ञीलः । अनस्र्रिः स्रिमेंधावी न स्र्रिस्ट्रित्तित्प्रतिषेधोऽनस्रिः स्रिरेवेद्यर्थः । महान्तमितप्रमाण-मप्रमेयमम्य प्रजापतेमिहिमानं विभूतिम् आहुर्वद्वाविदः । यस्मात्त्वयमन्यैरनद्यमानः अभक्ष्यमाणः यदनत्रम् अग्निवागादिदेवताक्त्पम् अत्ति भक्षयतीति । वा इति निर्थकः । वयं हे ब्रह्मचारिन्, आ इदम् एवं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म वयमा उपास्महे । वयमिति व्यवहितेन संबन्धः । अन्ये न वयमिद्मुपास्महे, किं तिर्दे । परमेव ब्रह्म उपास्महे इति वर्णयन्ति । दत्तास्मै भिक्षामित्यवोचद्भत्यान् ॥

तसा उ ह द्दुस्ते वा एते पश्चान्ये पश्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृत्य सौषा विराडन्नादी तयेद्य सर्वे दष्ट्य सर्वमस्येदं दृष्टं भव-त्यन्नादो भवति य एवं वेद् य एवं वेद् ॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

s. c. iv. 2

तस्मा उ ह ददु: ते हि भिक्षाम । ते वै ये प्रस्यन्ते अग्न्याद्यः यश्च तेषां प्रसिता वायुः पञ्चान्ये वागादिभ्यः, तथा अन्ये तेभ्यः पञ्चाध्यात्मं वागादयः प्राणश्च, ते सर्वे दश भवन्ति संख्यया, दश सन्तः तत्कृतं भवति ते, चतुरङ्क एकाय: एवं चत्वारस्त्र्यङ्काय: एवं त्रयोऽपरे ब्यङ्काय: एवं द्वाव-न्यावेकाङ्काय: एवमेकोऽन्यः इत्येवं दश सन्तः तत्कृतं भवति। यत एवम् , तस्मान् सर्वासु दिक्षु दशस्वष्यग्न्याद्या वागाद्याश्च द्शसंख्यासामान्यादन्नमेव, 'दशाक्षारा विराट्' 'विराडन्नम्' इति हि श्रुति: । अतोऽन्नमेव, द्शमंख्यत्वात् । तत एव द्श कृतं कृतेऽन्तर्भावान् चतुरङ्कायत्वेनेत्यवाचाम । सैषा विराट् दशसंख्या सती अन्नं च अन्नादी अन्नादिनी च कृतत्वेन। कृते हि दशसंख्या अन्तर्भूता, अतोऽन्नमन्नादिनी च सा। तथा विद्वान्दशदेवतात्मभूतः सन् विराट्त्वेन दशसंख्यया अन्नं कृतसंख्यया अन्नादी च। तया अन्नान्नादिन्या इदं सर्वे जगत् द्शद्क्संस्थं दृष्टं कृतसंख्याभूतया उपलब्धम् । एवंविदः अस्य सर्वे कृतसंख्याभृतस्य दशदिक्संबद्धं दृष्टम् उपलब्धं भवति । किंच अन्नाद्श्च भवति, य एवं वेद यथोक्तद्शीं । द्विरभ्यासः उपासनसमाध्यर्थः ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम्॥

चतुर्थः खण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मात-रमामन्त्रयांचके ब्रह्मचर्य भवति विव-त्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १॥

सर्व वागाद्यग्न्यादि च अन्नान्नाद्दवसंस्तुतं जगदेकित्वस्य षोडश्रधा प्रविभज्य तिमन्त्रह्मदृष्टिर्विधातव्येत्यारभ्यते । श्रद्धातपसोत्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनाय आख्यायिका । सत्य-कामो ह नामतः, ह-शब्द ऐतिह्यार्थः, जबालाया अपत्यं जाबालः जबालां स्वां मातरम् आमन्त्रयांचके आमन्त्रित-वान् । ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायप्रहणाय हे भवति विवत्स्यामि आचार्यकुले, किंगोत्रोऽहं किमस्य मम गोत्रं सोऽहं किंगो-त्रो नु अहमस्मीति ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतबेद तात यहो-त्रस्त्वमिस बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यहो-वस्त्वमिस जबाला तु नामाहमिस स-

त्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जावालो ब्रवीथा इति ॥ २॥

एवं पृष्टा जबाला सा ह एनं पुत्रमुवाच—नाहमेतत् तव गोत्रं वेद, हे तात यद्गोत्रस्त्वमासि । कस्मान्न वेत्सीत्युक्ता आह— बहु भर्तृगृहे परिचर्याजातमातिथ्यभ्यागतादि चर-न्ती अहं परिचारिणी परिचरन्तीति परिचरणशीलैवाहम्, परिचरणिचत्तत्या गोत्रादिस्मरणे मम मनो नाभूत्। यौवने च तत्काले त्वामलभे लब्धवत्यस्मि । तदैव ते पितोपरतः; अतोऽनाथा अहम्, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, सत्वं सत्यकाम एवाहं जाबालोऽस्मीत्याचार्याय ब्रुवीथाः; यद्याचार्येण पृष्ट इत्याभिप्रायः ॥

स ह हारिहुमतं गौतममेत्योवाच ब्र-ह्मचर्ये भगवति वत्स्याम्युपेयां भगव-न्तमिति॥३॥

त इोवाच किंगोत्रो नु सोम्यासी-ति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रो-ऽहमस्म्यपृच्छं मातर इसा मा प्रस्नवी- द्वहरं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वा-मलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमिस जबाला तु नामाहमिस सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहर् सत्यकामो जाबालो-ऽस्मि भो इति ॥ ४॥

स ह सत्यकामः हारिद्रुमतं हरिद्रुमतोऽपत्यं हारिदुमतं गौतमं गोत्रतः एत्य गत्वा उवाच— ब्रह्मचर्यं भगवित पूजावित त्विय वत्स्यामि अतः उपयाम् उपगच्छेयं
शिष्यतया भगवन्तम् इत्युक्तवन्तं तं ह उवाच गौतमः—िकंगोत्रः नु सोम्य असीति, विज्ञातकुलगोत्रः शिष्य उपनेतव्यः ;
इति पृष्टः प्रत्याह सत्यकामः । स ह उवाच— नाहमेतद्वेद
भो, यद्गोत्रोऽहमिस्म ; किं तु अपृच्छं पृष्टवानिस्म मातरम् ;
सा मया पृष्टा मां प्रत्यव्यविन्माता; वह्वहं चरन्तीत्यादि
पूर्ववत् ; तस्या अहं वचः स्मरामि ; सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥

तथ् होवाच नैतद्ब्राह्मणा विवक्तुम-हिति समिध्य सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्याद्गा इति तसुपनीय कुद्यानामब- लानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नु-वाच नासहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्र संपेदुः॥ ५॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तं ह उवाच गौतमः—नैतद्वचः अब्राह्मणो विशेषेण वक्तुमईति आर्जवार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्मणा नेतरे स्वभावतः । यस्मान्न सत्यात् ब्राह्मणजातिधर्मात् अगाः नापेतवानासि, अतः ब्राह्मणं त्वामुपनेष्ये; अतः संस्कारार्थे होमाय समिधं सोस्य आहर, इत्युक्त्वा तमुपनीय क्रशानामबल्लानां गोयूथान्निराक्तत्य अपकृष्य चतुःशता चत्वारिशनतानि गवाम् उवाच—इमाः गाः सोस्य अनुसंब्रज अनुगच्छ । इत्युक्तः ता अरण्यं प्रत्यभिष्रस्थापयन्नुवाच— नासहस्रेण अपूर्णेन सहस्रेण नावर्तेय न प्रत्यागच्छेयम् । स एवमुक्तवा गाः अरण्यं तृणोदकबहुलं द्वन्द्वरहितं प्रवेश्य स ह वर्षगणं दीर्घं प्रोवास प्रोषितवान् । ताः सस्यग्गावः रिक्षताः यदा यसिमन्काले सहस्रं संपेदुः संपन्ना बभृतुः ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम्॥

पश्चमः खण्डः॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्र स्मः प्रापय न आचार्य-कुलम्॥१॥

तमेतं श्रद्धातपोभ्यां मिद्धं वायुदेवता दिक्संबिन्धिनी तुष्टा सती ऋषभमनुप्रविद्य ऋषभभावमापन्ना अनुप्रहाय अथ ह एनमृषभाऽभ्युवाद अभ्युक्तवान मत्यकाम३ इति संबोध्य। तम असौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ। प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः, पूर्णा तव प्रतिज्ञा, अतः प्रापय नः अस्मानाचार्यकुळम्।।

ब्रह्मणश्च ते पादं व्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलेष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्म-णः प्रकाशवान्नाम ॥ २॥

किंच अहं ब्रह्मणः परस्य ते तुभ्यं पादं ब्रवाणि कथ-यानि । इत्युक्तः प्रत्युवाच—ब्रवीतु कथयतु मे महां भग- वान् । इत्युक्तः ऋषभः तस्मै सत्यकामाय ह उवाच—
प्राची दिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । तथा प्रतीची
दिक्कला दक्षिणा दिक्कला उदीची दिक्कला, एष वै सोम्य
ब्रह्मणः पादः चतुष्कलः चतसः कला अवयवा यस्य
सोऽयं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम प्रकाशवानित्येव नाम अभिधानं यस्य । तथोत्तरेऽपि पादास्त्रयश्चतुष्कलला ब्रह्मणः ॥

स य एतमेवं विद्वा श्व्यतुष्कलं पादं व्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानिस्मिह्रोंके भवति प्रकाशवतो ह लोका- अयित य एतमेवं विद्वा श्व्यतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३॥

स यः कश्चित् एवं यथोक्तमेतं ब्रह्मणः चतुष्कलं पादं विद्वान् प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्टम् उपास्ते, तस्येदं फलम्— प्रकाशवानिस्मह्लोके भवति प्रख्यातो भवतीत्यर्थः; तथा अदृष्टं फलम्— प्रकाशवतः ह लोकान् देवादिसंबन्धिनः मृतः सन् जयति प्राप्नोति; य एतमेवं विद्वान् चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते।।

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्टः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तिति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूबुस्तत्राग्निसुपसंमाधाय गा उ-परुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपो-पविवेश।

सोऽग्निः ते पादं वक्तेत्युपरराम ऋषभः । सः सत्य-कामः ह श्वोभूते परेद्युः नैत्यकं नित्यं कर्म कृत्वा गाः अभित्रस्थापयांचकार आचार्यकुळं प्रति । ताः शनैश्चरन्त्यः आचार्यकुळाभिमुख्यः प्रस्थिताः यत्र यस्मिन्काळे देशेऽभि सायं निशायामभिसंबभूवुः एकत्राभिमुख्यः संभूताः, तत्रा-ग्निमुपसमाधाय गा उपरुष्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राब्धु-खः उपविवेश ऋषभवचो ध्यायन् ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति भग-व इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति संबोध्य । तम् असौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्र-

वीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला चौः कला समुद्रः क-लैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो-ऽनन्तवान्नाम ॥ ३॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै ह उवाच, पृथिवी कछा अन्तरिक्षं कछा सौ: कछा समुद्रः कछेत्यात्मगोचरमेव दर्शनमग्निरब्रवीत्। एष वै सोम्य चतु-ष्कछः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम।।

स य एतमेवं विद्या ५ अतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानिस्म-ह्यांके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्या ५ अतुष्कलं पादं ब्रह्मणो-ऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

स यः कश्चित् यथोक्तं पादमनन्तवस्त्रेन गुणेनोपास्ते, स तथैव तद्भुणो भवत्यस्मिँ होके, मृतश्च अनन्तवतो ह छो-कान् स जयति; य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥ इति षष्टस्रण्डभाष्यम्॥

सप्तमः खण्डः॥

हश्सस्ते पादं वक्तिति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभुवुस्तलाग्निमुपसमाधाय गा उपकृष्य समिधमाधाय पश्चाद्ग्नेः प्राङु-पोपविवेदा ॥ १॥

त ५ ह ५स उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाः म३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

सोऽग्निः हंसः ते पादं वक्तेत्युक्त्वा उपर्राम । हंस आ-दित्यः, शौक्वथात्पतनसामान्याच । स ह श्वोभूते इत्यादि समानम् ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवी-तु मे भगवानिति तसौ होवाचाग्निः कला स्र्येः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलै- ष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाः श्चतुष्कलं पादं व्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योति। प्मानिस्मानित्युपास्ते ज्योति। प्मानिस्मानिक्मतो ह लोकाञ्चयति य एतमेवं विद्वाः श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

अग्नि: कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्येति ज्योतिर्विषयमेव च दर्शनं प्रोवाच ; अतो हंसस्य आदित्यत्वं प्रतीयते । विद्वत्फलम्—ज्योतिष्मान् दीप्तियु-कोऽस्मिह्रोंके भवति । चन्द्रादित्यादीनां ज्योतिष्मत एव च मृत्वा लोकान् जयति । समानसुत्तरम् ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥



अष्टमः खण्डः॥

मद्गुष्टे पादं वक्तिति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं वभू बुस्तत्राग्निसुपसमाधाय गा उपकृष्य समिधमाधाय पश्चादंग्नः प्राङुपोपवि-वेद्या॥१॥

हंसोऽपि मद्गुष्टे पादं वक्तेत्युपरराम । मद्गुः उदकचरः पक्षी, स च अप्संबन्धात्प्राणः । स ह श्रोभूते इत्यादि पूर्ववत् ॥

तं महुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्र-वीतु मे भगवानिति तसी होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयत-नवान्नाम ॥ ३॥

स च महुः प्राणः स्वविषयमेव च द्र्शनमुवाच प्राणः कलेत्याद्यायतनवानित्येवं नाम । आयतनं नाम मनः सर्व-करणोपहृतानां भोगानां तद्यस्मिन्पादे विद्यत इत्यायतनवा-न्नाम पादः॥

स य एतमेवं विद्वां श्व्यतुष्कलं पादं व्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानिस्मिह्नाके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्चयति य एतमेवं विद्वां श्व्यतुष्कलं पादं व्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

• इति अष्टमः खण्डः ॥

तं पादं तथैवोपास्ते यः स आयतनवान् आश्रयवान-स्मिँह्योके भवति । आयतनवत एव सावकाशाँह्योकान्मृतो जयति । य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम्॥

नवमः खण्डः॥

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशु-श्राव ॥ १ ॥

स एवं ब्रह्मवित्सन प्राप ह प्राप्तावानाचार्यकुळम् । तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति ; भगव इति ह प्रति-ग्रुश्राव ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुदादाासेत्यन्यं मनुष्येभ्य इति ह प्र-तिजज्ञे भगवा स्त्वेव मे कामे ब्र्यात्॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि । प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवद-नश्च निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद्भवति । अत आह आचार्यो ब्रह्मविदिव भासीति ; को न्विति वितर्कयन्नुवाच—कस्त्वाम-नुशशासेति । स च आह सत्यकामः अन्ये मनुष्येभ्यः । देवता मामनुशिष्टवत्यः । कोऽन्यो भगविच्छष्यं मां मनुष्यः सन् अनुशासितुमुत्सहेतेत्यभिप्रायः । अतोऽन्ये मनुष्येभ्यः इति ह प्रतिज्ञज्ञे प्रतिज्ञातवान् । भगवांस्त्वेव मे कामे ममे-च्छायां ब्रूयात किमन्यैरुक्तेन, नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥

श्रुत १ ह्येव मे भगव हु हो भय आचार्या-द्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीया-येति वीयायेति ॥ ३॥

इति नवमः खण्डः ॥

किंच श्रुतं हि यस्मात् मम विद्यते एवास्मिन्नर्थे भगवहु-होभ्यो भगवत्समेभ्यः ऋषिभ्यः। आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापति प्राप्नोति ; अतो भगवानेव ब्रूया-दित्युक्तः आचार्यः अब्रवीत् तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम्। अत्र ह न किंचन षोडशकळविद्यायाः किंचिदेकदेशमात्रमपि न वीयाय न विगतमित्यर्थः। द्विरभ्यासो विद्यापरिसमा-स्यर्थः॥

इति नवमखण्डभाष्यम्॥



द्शमः खण्डः॥

पुनर्बह्मविद्यां प्रकारान्तरेण वक्ष्यामीत्यारभते गतिं च तद्विदोऽग्निविद्यां च । आख्यायिका पूर्ववच्छूद्धातपसोर्ब्रह्म-विद्यासाधनत्वप्रदर्शनार्था—

उपकोसला ह वै कामलायनः सत्य-कामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह ब्राद्श वर्षाण्यग्रीन्परिचचार स ह स्मा-न्यानन्तेवासिनः समावर्तयक्त्रस्तक् ह स्मै-व न समावर्तयति ॥ १॥

उपकांसलो ह वै नामतः कमलस्यापत्यं कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य, ह ऐतिह्यार्थः, तस्य आचार्यस्य द्वादश वर्षाण अझीनपरिचचार अझीनां परिचरणं कृतवान् । स ह स्म आचार्यः अन्यान्ब्रह्मचा-रिणः स्वाध्यायं ब्राह्यित्वा समावर्तयन् तमेवोपकोसलमेकं न समावर्तयति स्म ह ॥

तं जायोवाच तसो ब्रह्मचारी कुश्वल-मग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्रयः परिप्रवो-चन्प्रब्र्ह्मस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवा-सांचके ॥ २॥

s. J. IV. 3

तम् आचार्यं जाया उवाच— तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं सम्यक् अग्नीन परिचचारीन् परिचरितवान्; भगवांश्च अग्निषु भक्तं न समावर्तयितः; अतः अम्मद्भक्तं न समावर्तयितिः अतः अम्मद्भक्तं न समावर्तयितिः ज्ञात्वा त्वाम् अग्नयः मा परिप्रवाचन् गर्हो तव मा कुर्युः; अतः प्रबृह्मि अस्मै विद्यामिष्टाम् उपकोसला-येति । तस्मै एवं जायया उक्तोऽपि ह् अप्रोक्तयैव अनुक्त्वैव किंचित्प्रवासांचके प्रविमतवान ॥

स ह व्याधिनानशितुं द्घे तमाचार्य-जायोवाच ब्रह्मचारित्रशान किं नु नाश्ना-सीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णो-ऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३॥

स ह उपकोसलः व्याधिना मानसेन दुःखेन अनिशतुम अनशनं कर्तुं दध्ने धृतवान्मनः । तं तूष्णीमग्न्यागारेऽविश्चि-तम् आचार्यजायोवाच—हे ब्रह्मचारिन अशान मुड्क्ष्व, किं नु कस्मान्नु कारणात्राश्चासि १ इति । स ह उवाच— बहवः अनेकेऽस्मिन्पुरुषेऽकृतार्थे प्राकृते कामाः इच्छाः कर्तव्यं प्रति नाना अस्ययः अतिगमनं येषां व्याधीनां कर्तव्यचिन्तानां ते नानास्ययाः व्याधयः कर्तव्यताप्राप्तिनिमित्तानि चित्तदुःखा- नीत्यर्थ: ; तै: प्रतिपूर्णोऽस्मि ; अतो नाशिष्यामीति ॥

अथ हाग्नयः सम्हिरे तसो ब्रह्मचारी कुदालं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४॥

उक्त्वा तूष्णींभूते ब्रह्मचारिण, अथ ह अग्नयः शुश्रूष-यावर्जिताः कारुण्याविष्टाः सन्तः त्रयोऽपि समृदिरे संभू-योक्तवन्तः— हन्त इदानीम् अस्मै ब्रह्मचारिणे अस्मद्भक्ताय दुःखिताय तपस्विने श्रद्धानाय सर्वेऽनुशास्मः अनुप्रब्रवाम ब्रह्मविद्याम्, इति एवं संप्रधार्य, तस्मै ह ऊचुः उक्तवन्तः— प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मोति ॥

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचु-र्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव किम-ति प्राणं च हास्मै तदाकादां चोचुः ॥५॥

इति दशमः खण्डः ॥

स ह उवाच ब्रह्मचारी— विजानाम्यहं यद्भवद्भिरुक्तं प्र-सिद्धपदार्थकत्वात्प्राणो ब्रह्मेति, सः यस्मिन्सित जीवनं यदप-

गमे च न भवति, तस्मिन्वायुविशेषे लोके रूढः ; अतः युक्तं ब्रह्मत्वं तस्य ; तेन प्रसिद्धपदार्थकत्वाद्विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्र-ह्मेति। कं च तु खं च न विजानामीति। ननु कंखंशब्दयोरिप सुखाकाशविषयत्वेन प्रमिद्धपदार्थकत्वमेव, कस्माद्धद्याचारि-णोऽज्ञानम् ? नूनम् , सुखस्य कंशब्दवाच्यस्य क्षणप्रध्वंसिः त्वात खंशब्दवाच्यस्य च आकाशस्याचेतनस्य कथं ब्रह्म-त्वीमिति मन्यते ; कथं च भगवतां वाक्यमप्रमाणं स्यादिति ; अतो न विजानामीत्याह । तम एवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं ते ह अग्नय ऊचु:-- यद्वाव यदेव वयं कम् अवोचाम, तदेव खम् आकाशम्, इत्येवं खेन विशेष्यमाणं कं विषयेन्द्रियसं-योगजात्सुखान्निवर्तितं स्यात्— नीलेनेव विशेष्यमाणमुत्पलं रक्तादिभ्य:। यदेव खम् इत्याकाशमवीचाम, तदेव च कं सुखमिति जानीहि । एवं च सुखेन विशेष्यमाणं खं भौति-काद्चेतनात्खान्निवर्तितं स्यात् – नीलोत्पलवदेव । सुखमाका-शस्थं नेतरहौिककम्, आकाशं च सुखाश्रयं नेतरद्गौतिकमि-त्यर्थ: । नन्वाकाशं चेत् सुखेन विशेषयितुमिष्टम् , अस्त्वन्य-तरदेव विशेषणम्-यद्वाव कं तदेव खम् इति, अतिरिक्तमि-तरत्; यदेव खं तदेव कमिति पूर्वविशेषणं वा; ननु सुखा-काशयोरभयोरिप छौकिकसुखाकाशाभ्यां व्यावृत्तिरिष्टेत्य-

वोचाम । सुखेन आकाशे विशेषिते व्यावृत्तिरुभयोरर्थप्राप्तैवेति चेत्, सत्यमेवम्; किंतु सुखेन विशेषितस्यैव आकाशस्य ध्ये-यत्वं विहितम्; न त्वाकाशगुणस्य विशेषणस्य सुखस्य ध्ये-यत्वं विहितं स्यात् , विशेषणोपादानस्य विशेष्यनियन्तृत्वे-नैवोपक्षयात् । अतः खेन सुखमपि विशेष्यते ध्येयत्वाय । क्रतश्चेतित्रश्चीयते ? कंशब्दस्यापि ब्रह्मशब्दसंबन्धात् कं ब्रह्मेति । यदि हि सुखगुणविशिष्टस्य खस्च ध्येयत्वं विव-क्षितं म्यात् , कं खं ब्रह्मोति ब्र्युः अग्नयः प्रथमम् । न चैवमुक्तवन्त:। किं तर्हि? कं ब्रह्म खं ब्रह्मोति। अत: ब्रह्मचारिणो मोहापनयनाय कंखंशब्दयोरितरेतरविशेषणवि-शंष्यत्विनर्देशो युक्त एव यद्वाव कमित्यादिः । तदेतद्ग्निभि-रुक्तं वाक्यार्थमस्मद्वोधाय श्रुतिराह— प्राणं च ह असमै ब्रह्मचारिणे, तस्य आकाशः तदाकाशः, प्राणस्य संबन्धी आश्रयत्वेन हार्द आकाश इत्यर्थ:, सुखगुणवत्त्वनिर्देशात्; तं च आकाशं सुखगुणविशिष्टं ब्रह्म तत्स्थं च प्राणं ब्रह्म-संपर्कादेव ब्रह्मेत्युभयं प्राणं च आकाशं च समुचित्य ब्रह्मणी ऊचु: अम्रय इति ॥

इति दशमखण्डभाष्यम्॥

एकाद्शः खण्डः॥

अथ हैनं गाईपलोऽनु दाद्यास पृथिव्य-ग्निरन्नमादिल इति य एष आदिले पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥

संभ्याग्रयः ब्रह्मचारिणे ब्रह्म उक्तवन्तः । अथ अन-न्तरं प्रत्येकं स्वस्विवषयां विद्यां वक्तुमारेभिरे । तत्र आदौ एनं ब्रह्मचारिणं गाईपत्यः अग्निः अनुशशास—पृथिन्यग्नि-रत्नमादित्य इति ममैताश्चतस्रस्तनवः । तत्र य आदित्ये एष पुरुषो दृश्यते, सोऽहमिस्म गाईपत्योऽग्निः, यश्च गाईपत्यो-ऽग्निः स एवाहमादित्ये पुरुषोऽस्मि, इति पुनः परावृत्त्या स एवाहमस्मीति वचनम् । पृथिन्यन्नयोरिव भोज्यत्वस्रक्षणयोः संबन्धो न गाईपत्यादित्ययोः । अत्तृत्वपक्तृत्वप्रकाशनधर्मा अविशिष्टा इत्यतः एकत्वमेवानयोरत्यन्तम् । पृथिन्यन्नयोस्तु भोज्यत्वेन आभ्यां संबन्धः ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप-कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्यो- ग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मि श्र्य लोकेऽमु प्मिश्र्य य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति एकाद्शः खण्डः ॥

स यः किदचत् एवं यथोक्तं गाईपत्यमग्निम् अन्नान्ना-द्त्वेन चतुर्धा प्रविभक्तम् उपास्ते, सोऽपहते विनाशयति पापक्रत्यां पापं कर्म । लोकी लोकवांश्चास्मदीयेन लोकेना-मेयेन तद्वान्भवति यथा वयम् । इह च छोके सर्वे वर्षशतम् आयुरेति प्राप्नोति । ज्योक् उज्ज्वस्रं जीवति नाप्रख्यात इत्येतत् । न च अस्य अवराइच ते पुरुषाइच अस्य विदुषः संततिजा इट्यर्थ:, न क्षीयन्ते संतत्युच्छेदो न भवती-त्यर्थ: । किं च तं वयम् उपभुजामः पालयामः अस्मिश्च लोके जीवन्तम् अमुध्मिइच परलोके । य एतमेवं विद्वानु-पास्ते, यथोक्तं तस्य तत्फलमित्यर्थः ॥

इति एकाद्दाखण्डभाष्यम् ॥



द्वाद्शः खण्डः॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुदाशासा-पो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमसि स एवाहमस्मीति ॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप-कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्यो-ग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मि ५ लोकेऽमुष्मि ५ श्र य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

अथ ह एनम् अन्वाहार्यपचनः अनुशशास दक्षिणाग्निः—
आपो दिशो नक्षताणि चन्द्रमा इत्येता मम चतस्रस्तनवः
चतुर्धा अहमन्वाहार्यपचने आत्मानं प्रविभज्याविस्थितः ।
तत्र य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवा- .
हमस्मीति पूर्ववत् । अत्रसंबन्धाज्ज्योतिष्ठसामान्याच अन्वाहार्यपचनचन्द्रमसोरेकत्वं दक्षिणिद्क्संबन्धाच । अपां नक्षत्राणां च पूर्ववदन्नत्वेनैव संबन्धः, नक्षत्राणां चन्द्रमसो भोग्यत्वप्रसिद्धेः । अपामन्नोत्पाद्कत्वादन्नत्वं दक्षिणाग्नेः— पृथिवीवद्गाहंपत्यस्य । समानमन्यत् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम्॥

त्रयोद्दाः खण्डः॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुराशास प्राण आकाशो चौर्विद्युदिति य एष विद्यु-ति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवा-हमस्मीति॥१॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप
वयं तं सुञ्जामोऽस्मिर्श्च लोकेऽसुष्मिर्
इच य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ ह एनमाहवनीयोऽनुशशास—प्राण आकाशो द्यौर्वि-द्युदिति ममाप्येताश्चतस्रस्तनवः । य एष विद्युति पुरुषो दः-इयते, सोऽहमस्मीत्यादि पूर्ववत् सामान्यात् । द्य्वाकाश-योः स्वाश्रयत्वात् विद्युदाहवनीययोः भोग्यत्वेनैव संबन्धः । समानमन्यत् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरूपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मिब्ध-चात्मिवद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्या-जगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादो-पकोसल३ इति ॥ १॥

ते पुनः संभूयोचुः ह—उपकोसल एषा सोम्य ते तव अस्मद्विद्या अग्निविद्येत्यर्थः; आत्मविद्या पूर्वोक्ता प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति च; आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता विद्याफलप्रामये इत्युक्त्वा उपरेमुरमयः। आजगाम ह अस्य आचार्यः कालेन। तं च शिष्यम् आचार्यो अभ्युवाद उपकोसल ३ इति ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद् इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानु-शशासेति को नु मानुशिष्याङ्गो इती-हापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहारनीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल ते ऽवोचित्रिति ॥ २॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तहक्ष्यामि यथा पुष्करपलाज्ञा आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं प्रसन्नं भाति को नु त्वा अनुशशास इत्युक्त: प्रत्याह— को नु मा अनुशिष्यात् अनुशासनं कुर्यात् भो भगवन् त्विय प्रोषिते, इति इह अप इव निह्नुते अपनिह्नुत इवेति व्यवहितेन संबन्धः, न च अपनिह्नुते, न च यथावद्गिनभिरुक्तं त्रवीती-त्यभिप्राय:। कथम् ? इमे अग्नय: मया परिचरिता: उक्तवन्तः नूनम्, यतस्त्वां दृष्ट्वा वेपमाना इव ईदृशा दृश्यन्ते पूर्वमन्या-दृशाः सन्तः, इति इह अग्नीन् अभ्यूदे अभ्युक्तवान् काका अग्नीन्दर्शयन् । किं नु सोम्य किल ते तुभ्यम् अवोचन् अग्नय: ? इति, पृष्ट: इत्येवम् इद्मुक्तवन्त: इत्येवं ह प्रतिज्ञे प्रतिज्ञातवान् प्रतीकमात्रं किंचित्, न सर्वं यथोक्तमग्निभिक-क्तमवोचत्। यत आह् आचार्यः — छोकान्वाव पृथिव्या-दीन हे सोम्य किल ते अवोचन, न ब्रह्म साकल्येन। अहं तु ते तुभ्यं तद्भक्ष यदिच्छिस त्वं श्रोतुं वक्ष्यामि, शृणु तस्य मयोच्यमानस्य ब्रह्मणा ज्ञानमाहात्म्यम् — यथा पुष्करपलाज्ञे पद्मपत्रे आपो न ऋिष्यन्ते, एवं यथा वक्ष्यामि ब्रह्म, एवं-विदि पापं कर्म न श्लिष्यते न संबध्यते इति । एवमुक्तवित आचार्ये आह उपकोसल: - व्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै ह उवाच आचार्य: ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम्॥

पश्चद्शः खण्डः॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो हर्यत एष आत्मेति होवाचैतद्मृतमभयमेतह्रह्मोति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिवीदं वा सिश्चति व-त्मेनी एव गच्छति ॥ १ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषः दृदयते निवृत्तचक्षुभिर्म्मह्मचर्यादि-साधनसंपन्नैः शान्तैविवेकिभिः दृष्टेद्रष्टा, 'चक्षुषश्चक्षुः' इत्यान् दिश्रुत्यन्तरात्; नतु अग्निभिरुक्तं वितथम्, यतः आचार्य-स्तु ते गतिं वक्ता इति गतिमाह्नस्य वक्तेत्यवोचन्, भवि-ष्यद्विषयापरिज्ञानं च अग्नीनाम्; नेष दोषः, सुखाकाशस्यैव अक्षिणि दृदयत इति दृष्ट्रस्तुवादात्। एष आत्मा प्राणि-नामिति ह उवाच एवमुक्तवान्; एतत् यदेव आत्मतत्त्वम-वोचाम, एतदमृतम् अमरणधार्मे अविनाशि अत एवाभ-यम्, यस्य हि विनाशाशङ्का तस्य भयोपपत्तिः तदभावादभ-यम्, अत एव एतद्वद्वा बृहदनन्तमिति। किंच, अस्य ब्रह्म-णोऽक्षिपुरुषस्य माहात्म्यम्-तत् तत्र पुरुषस्य स्थाने अक्षिणि यद्यप्यस्मिन्सिपविदेकं वा सिञ्चिति, वर्सनी एव गच्छिति पक्ष्मावेव गच्छिति; न चक्षुषा संबध्यते—पद्मपत्रेणेवोदकम् । स्थानस्याप्येतन्माहोत्म्यम् , किं पुनः म्थानिनोऽक्षिपुरूपस्य निरञ्जनत्वं वक्तव्यमित्यभिष्रायः ॥

एत ५ संयद्वाम इत्याचक्षत एत ६ स्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २॥

एतं यथोक्तं पुरुषं संयद्वाम इत्याचक्षते । कस्मात् ? यसा-देतं सर्वाणि वामानि वननीयानि संभजनीयानि श्लोभनानि अभिसंयान्ति अभिसंगच्छन्तीत्यतः संयद्वामः । तथा एवंविद-मेनं सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद् ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३॥

एष उ एव वामनी:, यस्मादेष हि सर्वाणि वामानि पुण्यकर्मफलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति वहति च आत्मधर्मत्वेन । विदुषः फल्लम्—सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लो-केषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४॥

एष उ एव भामनी:, एष हि यस्मात् सर्वेषु छोकेषु आ-दिख्यचन्द्राग्न्यादिरूपै: भाति दीष्यते, 'तस्य भासा सर्विमिदं विभाति ' इति श्रुते: । अतो भामानि नयतीति भामनी: । य एवं वेद, असाविप सर्वेषु छोकेषु भाति ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छन्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यचिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाचान्षडुद-ङ्ङेति मासार्थ्तान्मासेभ्यः संवत्सर्थ् संवत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्र-मसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एना-न्द्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्ते नावर्त-नते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

इति पञ्चद्शः खण्डः ॥

अथेदानीं यथोक्तब्रह्मविद: गतिरुच्यते। यत् यदि उ च एव अस्मिन् एवंविदि शन्यं शवकर्म मृते कुर्वन्ति, यदि च न कुर्वन्ति ऋत्विज:, सर्वथाप्येवंवित् तेन शवकर्मणा अकृते-नापि प्रतिबद्धो न ब्रह्म न प्राप्नोति ; न च कृतेन शवकर्मणा अस्य कश्चनाभ्यधिको छोक:, 'न कर्मणा वर्धते नो कनी-यान् ' इति श्रुत्यन्तरात् । शवकर्मण्यनाद्रं दर्शयन विद्यां स्तौति, न पुनः शवकर्म एवंविदः न कर्तव्यमिति । अिकयमाणे हि शवकर्माण कर्मणां फलारम्भे प्रतिबन्धः क-श्चिद्नुमीयतेऽन्यत्र । यत इह विद्याफलारम्भकाले शवकर्म स्याद्वा न वेति विद्यावतः अप्रतिबन्धेन फलारम्भं दर्शयति। य सुखाकाशमक्षिस्थं संयद्वामो वामनीभीमनीरित्येवंगुणमु-पासते प्राणसहितामग्निविद्यां च, तेषामन्यत्कर्म भवतु मा वा भूत् सर्वथा अपि ते अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति अ-चिरिभमानिनीं देवतामिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। अचिषः अचिदेवताया अहः अहरभिमानिनीं देवताम्, अहः आपूर्यमाणपक्षं ग्रुक्कपक्षदेवताम् , आपूर्यमाणपक्षान् यान्षण्मा-सान् उदङ् उत्तरां दिशम् एति सविता तान्मासान् उत्तरायण-देवताम् , तेभ्यो मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरदेवताम् , ततः सं-वत्सरादादित्यम् , आदित्याचनद्रमसम् , चन्द्रमसो विद्युतम् ।

खि.

तत् तत्रस्थान् तान् पुरुषः कश्चिद्वह्यलोकादेत्य अमानवः मानव्यां सृष्टी भवः मानवः न मानवः अमानवः स पुरुषः एनान्ब्रह्म सत्यलोकस्थं गमयति गन्तृगन्तव्यगमयितृत्वव्य-पदेशेभ्य:, सन्मात्रब्रह्मप्राप्ती तद्तुपपत्ते: । 'ब्रह्मैव सन्ब-ह्याप्येति ' इति हि तत्र वक्तुं न्याय्यम् । सर्वभेदानिरासेन सन्मात्रप्रतिपत्तिं वक्ष्यति । न च अदृष्टो मार्गोऽगमनायो-पतिष्ठते, 'स एनमविदितो न भुनक्ति' इति श्रुत्यन्त-रात् । एष देवपथः देवैरिचेरादिभिर्गमयितृत्वेनाधिकृतैरुपल-क्षितः पन्था देवपथ उच्यते । ब्रह्म गन्तव्यं तेन च उप-लक्षित इति ब्रह्मपथ:। एतेन प्रतिपद्ममाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनुसंबन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्ते नावर्तन्ते आवर्तन्तेऽस्मिश्जननमर्णप्रबन्धचक्रारूढा घटीयन्त्रवत्पुनः पुनिरित्यावर्तः तं न प्रतिपद्यन्ते । नावर्तन्ते इति द्विरुक्तिः सफलाया विद्यायाः परिसमाप्तिप्रदर्शनार्था ॥

इति पञ्चद्राखण्डभाष्यम्॥



षोंडशः खण्डः॥

रहम्यप्रकरणे प्रसङ्गात आरण्यकत्वसामान्याच यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्था विधातव्याः, तद्भिज्ञस्य च ऋत्विजो ब्रह्मणो मौनभित्यत इद्मारभ्यते—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निद् सर्वे पुनाति यदेष यन्निद् सर्वे पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १॥

एंष वै एष वायुः योऽयं पवते अयं यज्ञः। ह वै इति प्रसिद्धार्थावद्योतको निपातो। वायुप्रतिष्ठो हि यज्ञः प्रसिद्धः श्रुतिषु, 'स्वाहा वातेषाः' 'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते' इत्यादिश्रुतिभ्यः। वात एव हि चळनात्मकत्वात्क्रियासमवायी, 'वात
एव यज्ञम्यारम्भको वातः प्रतिष्ठा' इति च अवणात्। एष ह
यन् गच्छन् चळन इदं सर्व जगत पुनाति पावयति शोधयति।
न हि अचळतः शुद्धिरस्ति। दोषनिरमनं चळतो हि हष्टं न स्थिरस्य। यत् यस्माच यन एष इदं सर्व पुनाति, तस्मादेष एव
यज्ञः यत्पुनातीति। तस्यास्यैवं विशिष्टस्य यज्ञस्य वाक्च मन्त्रोचारणे व्यापृता, मनश्च यथाभृतार्थज्ञाने व्यापृतम्, ते
एते वाङ्मनसे वर्तनी मार्गी. याभ्यां यज्ञस्तायमानः प्रवर्तते ते
वर्तनी; 'प्राणापानपरिचळनवत्या हि वाचश्चित्तस्य चोत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति हि श्रुत्यन्तरम्। अतो वाङ्मनसाभ्यां

यज्ञो वर्तत इति वाङ्मनमं वर्तनी उच्येते यज्ञम्य ॥

तयोरन्यतरां मनसा स्रश्स्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतरा स्म यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानी-याया ब्रह्मा व्यवद्ति ॥ २॥

अन्यतरामंत्र वर्तनी स् सस्करोति हीयतं ऽन्यतरा स यथैकपाद्वजन्रयो वैके-न चकेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञ स् रिष्यन्तं यजमानो ऽनुरि-ष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३॥

तयोः वर्तन्योः अन्यतरां वर्तनीं मनमा विवेकज्ञानवता सं-स्करोति ब्रह्मा ऋत्विक्, वाचा वर्तन्या होताध्वर्युरुद्गाता इत्येते त्रयोऽपि ऋत्विजः अन्यतरां वाग्छक्षणां वर्तनीं वाचैव संस्कुर्व-नित। तत्रैवं सति वाड्यनमे वर्तनी संस्कार्ये यज्ञे । अथ स ब्रह्मा यत्र यस्मिन्काछे उपाक्ठते प्रारच्धे प्रातरनुवाके शस्त्रे, पुरा पूर्व प-रिधानीयाया ऋचः ब्रह्मा एतस्मिन्नन्तरे काछे व्यवद्ति मौनं प-रित्यजित यदि, तदा अन्यतरामेव वाग्वर्तनीं संस्करोति । ब्रह्मणा संस्क्रियमाणा मनोवर्तनी हीयने विनद्यति छिद्रीभवति अन्यत-रा; स यज्ञः वाग्वर्तन्यैव अन्यतरया वर्तितुमशक्नुवन रिष्यति। कथिमवेति, आह—स यथैकपात् पुरुषः व्रजन् गच्छन्नध्वानं रिष्यति,रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो गच्छन रिष्यति,एवमस्य य-जमानस्य कुब्रह्मणा यज्ञो रिष्यति विनद्यति।यज्ञं रिष्यन्तं यज-मानोऽनुरिष्यति। यज्ञपाणो हि यजमानः। अतो युक्तो यज्ञरेषे रेषस्तस्य। सः तं यज्ञमिष्टा तादृशं पापीयान पापतरो भवति॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव व-तेनी सक्ष्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥ स यथोभयपाद्रजन्नथो वोभाभ्यां च-क्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानो-ऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्रा श्रेयान्भवति॥

अथ पुनः यत्र ब्रह्मा विद्वान् मौनं परिगृह्य वाग्विसर्गमकु-र्वन् वर्तते यावत्परिधानीयाया न व्यवद्ति, तथैव सर्वर्त्विजः, उमे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरापि। किमिवेत्याह्— पूर्वोक्तविपरीतौ दृष्टान्तौ। एवमस्य यजमानस्य यज्ञः स्ववर्तनी-भ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठति स्वेन आत्मनाविनद्दयन्वर्तत इत्यर्थः। यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति।सः यजमानः एवं मौन नविज्ञानवद्वद्वोपेतं यज्ञमिष्ठा श्रेयान्भवति श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः॥ इति पोड्याखण्डभाष्यम्॥

सप्तद्शः खण्डः॥

अत्र ब्रह्मणो मौनं विहितम् , तद्रेषे ब्रह्मत्वकर्मणि च अ-थान्यस्मिश्च होत्रादिकमेरेषे व्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तमिति तद्वर्थे व्याहृतयो विधातव्या इत्याह—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमा-नाना १ रसान्प्रावृहद्ग्निं पृथिव्या वायुम-न्तरिक्षादादिसं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापितः छोकानभ्यतपत् छोकानुहिश्य तत्र सारजि-घृक्षया ध्यानछक्षणं तपश्चचार । तेषां तप्यमानानां छोकानां रसान मारक्षपान्प्रावृहत् उद्धृतवान जग्राहेत्यर्थः । कान ? अग्निं रसं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानाना रसान्प्रावृहद्ग्नेकेचो वा-योर्यजू एषि सामान्यादित्यात् ॥ २॥

पुनरप्येवमेवाग्न्याद्याः स एतास्तिस्रो देवता उद्दिश्य अभ्यतपन् । ततोऽपि सारं रसं त्रयीविद्यां जम्राह ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्त-

प्यमानाया रसान्त्रांबृहद्भूरित्वृग्भ्यो सुव-रिति यजुभ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

तद्यदक्तो रिष्येद्भः स्वाहेति गाईपत्ये जुहुयादचामेव तद्रसेनची वीर्येणची य-ज्ञस्य विरिष्ट संद्धाति ॥ ४॥

स एतां पुनरभ्यतपत् त्रयीं विद्याम् । तस्यास्तप्यमान्ताया रसं भूरिति व्याहृतिम् ऋग्भ्यो जप्राहः भुवरिति व्याहृतिं यजुभ्यः; स्विरिति व्याहृतिं सामभ्यः । अत एव लोकदेववेदरसा महाव्याहृतयः । अतः तत् तत्र यज्ञे यदि ऋक्तः ऋक्संबन्धादृङ्निमित्तं रिष्येत यज्ञः क्षतं प्राप्नुयात्, भूः स्वाहेति गाईपत्ये जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः । कथम १ ऋचामेव, तदिति क्रियाविशेषणम्, रसेन ऋचां वीर्येण ओजसा ऋचां यज्ञस्य ऋक्संबन्धिनो यज्ञम्य विरिष्टं विच्छित्रं क्षत्रस्पमुत्पन्नं संद्धाति प्रतिसंधत्ते ॥

स यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाचजुषामेव तद्रसेन य-जुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टश् सं-द्याति ॥ ५ ॥ अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः खाहे-त्याहवनीय जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्ट्रथ् संद्धाति॥१॥

अथ यदि यजुष्टो यजुर्निं। सत्तं रिष्येत्, भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । तथा मामानिमित्ते रेपे स्वः स्वाहे-त्याह्वनीये जुहुयात् । तथा पूर्ववद्यञ्चं संद्धाति । ब्रह्मानि-मित्ते तु रेषे त्रिष्विग्निषु तिस्मिर्व्याहितिभिर्जुहुयात् । त्रय्या हि विद्यायाः स रेषः, 'अथ केन ब्रह्मत्विमत्यनयैव त्रय्या विद्ययां इति श्रुतेः । न्यायान्तरं वा मृग्यं ब्रह्मत्विनिमित्ते रेषे ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संद्ध्यातसु-वर्णेन रजत रजतेन त्रपु त्रपुणा सीस स् सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानाम-स्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरि-ष्टर् संद्धाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्वस्ना भवति ॥ ८॥ 200.

तद्यथा छवणेन सुवर्ण संद्ध्यात् । क्षारेण टङ्कणादिना खरं मृदुत्वकरं हि तत्। सुवर्णेन रजतमशक्यसंधानं संद-ध्यान् । रजतेन तथा त्रपु, त्रपुणा सीसम् , सीसेन छोह्म् , छो-हेन दारु, दारु चर्मणा चर्मबन्धनेन । एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण रसाख्येनौजसा यज्ञस्य विरिष्टं संद्धाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञ:-- रोगार्त इव पुमांदिचकित्सकेन सुदिाक्षितेन एष यज्ञो भवति। कोऽसौ १ यत्र यस्मिन्यज्ञे एवंवित यथोक्तव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तवित् ब्रह्मा ऋत्विग्भवति स यज्ञ इत्यर्थः ॥

एष ह वा उद्कप्रवणो यज्ञो यत्रैवंवि-द्रह्मा भवत्येवंविद्ध् ह वा एषा ब्रह्माण-मनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति॥

किं च, एष ह वा उदक्प्रवण उदङ्निम्नो दक्षिणोच्छायो यज्ञां भवति ; उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः । यत्रैवंविद्वह्या भवति । एवंविदं ह वै ब्रह्माणम् ऋत्विजं प्रति एषा अनु-गाथा ब्रह्मण: स्तुतिपरा--यतो यत आवर्तते कर्म प्रदेशात् ऋत्विजां यज्ञ: क्षतीभवन् , तत्तराज्ञस्य क्षतरूपं प्रतिसंद्धत् प्र<mark>ायश्चित्तेन गच्छति परिपालयतीत्येतत् ॥</mark>

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विकुरूनश्वाभिर-

क्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमान सर्वी-५ अर्विजोऽभिरक्षति नस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥

इति सप्तदशः खण्डः॥

मानवो ब्रह्मा मौनाचरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वातः; ततो ब्रह्मेवैकः ऋत्विक् कुरून कर्तृन— योद्धृनारूढानश्चा बडवा यथा अभिरक्षाति, एवंवित ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वीश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति, तत्कृतदोषापनयनातः। यत एवं विशिष्टा ब्रह्मा विद्वानः, तस्मादेवंविदमेव यथोक्तव्याहृद्यादिविदं ब्रह्माणं कुर्वीतः, नानेवंविदं कदाचनेति। द्विरभ्यासोऽध्याय-परिसमाध्यर्थः।।

इति सप्तदशखण्डभाष्यम्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभग-वत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः॥





॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

गुणब्रह्मविद्याया उत्तरा गतिरुक्ता । अथे-दानीं पञ्चमेऽध्याये पञ्चाग्निविदो गृह्स्थस्य ऊर्ध्वरेतसां च श्रद्धाळ्नां विद्यान्तरशीलिनां तामेव गतिमन्द्य अन्या दक्षिणदिक्संबन्धिनी केवलकर्मिणां धूमादिलक्षणा, पुनरावृत्तिरूपा तृ-

तीया च ततः कष्टतरा संसारगितः, वैराग्यहेतोः वक्तव्येत्या-रभ्यते । प्राणः श्रेष्ठो वागादिभ्यः प्राणो वाव संवर्ग इत्या-दि च बहुशोऽतीते प्रन्थे प्राणप्रहणं कृतम्, स कथं श्रेष्ठो वागादिषु सर्वैः संहत्यकारित्वाविशेषे, कथं च तस्योपासन-मिति तस्त्र श्रेष्ठत्वादिगुणविधित्सया इदमनन्तरमारभ्यते—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

यो ह वै किदचत् ज्येष्ठं च प्रथमं वयसा श्रेष्ठं च गुणैर-भ्यधिकं वेद, स ज्येष्ठदच ह वै श्रेष्ठश्च भवति । फलेन पुरुषं प्रलोभ्याभिमुखीकृत्य आह—प्राणो वाव ज्येष्ठरच वयसा वागादिभ्यः; गर्भस्थे हि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वा-गादिभ्यः पूर्वे लब्धात्मिका भवति, यया गर्भो विवर्धते। चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तो सत्यां परचाद्वागादीनां वृत्ति-लाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति। श्रेष्ठत्वं तु प्रतिपा-द्यिष्यति— 'सुह्य' इत्यादिनिदर्शनेन। अतः प्राण एव ज्येष्ठरच श्रेष्ठरच अस्मिन्कार्यकरणसंघाते।।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

यो ह वै, विसिष्ठं विसितृतममाच्छाद्यितृतमं वसुमत्तमं वा यो वेद, स तथैव विसिष्ठो ह भवति स्वानां ज्ञातीनाम् । कस्तर्हि विसिष्ठ इति, आह— वाग्वाव विसिष्ठः, वाग्मिनो हि पुरुषा वसन्ति अभिभवन्त्यन्यान वसुमत्तमाश्च, अतो वाग्वसिष्ठः ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्य-स्मिथ्श्य लोकेऽमुष्मिथ्श्य चक्षुर्वाव प्र-तिष्ठा ॥ ३ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, स अस्मिँहोके अमुध्मिदच परे प्रतितिष्ठति ह । का तिहैं प्रतिष्ठेति, आह— चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा । चक्षुषा हि पश्यन समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति यस्मात्, अतः प्रतिष्ठा चक्षुः ॥

यो ह वै संपदं वेद स⁴ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत्॥

यो ह वै संपदं वेद, तम्मा अम्मै दैवाइच मानुषाइच कामा: संपद्यन्ते ह । का ताईं संपदिति, आह— श्रोतं वाव संपत् । यम्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृद्यन्ते तद्र्थविज्ञानं च, ततः कर्माणि क्रियन्ते ततः कामसंपदित्येवम्, कामसंपद्धेतु-त्वाच्छ्रोत्रं वाव संपत् ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतन इ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्॥

यो ह वा आयतनं वेद, आयतनं ह स्वानां भवतीत्यर्थः। किं तदायतनमिति, आह— मनो ह वा आयतनम्। इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां भोक्त्रर्थानां प्रत्ययरूपाणां मन आयतनमाश्रयः। अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम्।।

अथ ह प्राणा अहर् श्रेयसि व्यृदिरे-ऽहर्श्रेयानस्म्यहर्श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥ अथ ह प्राणाः एवं यथोक्तगुणाः सन्तः अहंश्रेयसि अहं श्रेयानस्मि अहं श्रेयानस्मि इत्येतस्मिन्प्रयोजने न्यूदिरे नाना विरुद्धं चोदिरे उक्तवन्तः ॥

ते ह प्राणाः प्रजापितं पितरमेखांचु-भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच य-स्मिन्व उत्कान्ते वारीरं पापिष्ठतरमिव हरूयेत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७॥

ते ह ते हैवं विवद्माना आत्मनः श्रेष्ठत्वविज्ञानाय प्रजापितं पितरं जनियतारं कंचिदेत्य ऊचुः उक्तवन्तः—
हे भगवन कः नः अम्माकं मध्ये श्रेष्ठः अभ्यधिकः गुणैः १ इत्येवं पृष्ठवन्तः । तान पितोवाच ह— यम्मिन वः युष्माकं मध्ये उत्कान्ते शरीरिमदं पापिष्ठमिवातिशयेन जीवतोऽपि समुत्कान्तप्राणं ततोऽपि पापिष्ठतरिमवातिशयेन दश्येन कुणपमस्पृत्रयमशुचि दश्येत, सः वः युष्माकं श्रेष्ठ इत्यवो-चत् काका तदुःखं परिजिहीर्षुः ॥

सा ह वागुचकाम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमदाकतर्ते मज्जीवितुमि-ति यथा कला अवद्न्तः प्राणन्तः प्राणेन पद्यन्तश्रक्षुषा श्रुण्वन्तः श्रोतेण ध्या- यन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्॥

चक्षुहींचकाम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्ये-त्योवाच कथमशकतर्ने मज्जीवितुमिति य-थान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वद्-न्तो वाचा श्रुण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षः॥ ९॥

श्रोत्र इोचकाम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमदाकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा विचरा अश्रुण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पद्यन्तश्रक्षुषा ध्यायन्तो मनसैविमिति प्रविवेदा ह श्रोत्रम् ॥ १०॥

मनो होचकाम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्धे-त्योवाच कथमशकतर्ते मजीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चश्चषा श्रुण्वन्तः श्रोतेणैविमिति प्रविवेश ह मनः॥११॥ तथोक्तेषु प्रित्रा प्राणेषु सा ह वाक् उचकाम उत्कान्त- वती; सा च उत्क्रम्य संवत्सरमात्रं प्रोध्य स्वव्यापारान्नि-वृत्ता सती पुनः पर्येत्य इतरान्प्राणानुवाच— कथं केन प्रकारेणाशकत शक्तवन्तो यूयं महते मां विना जीवितुं धारियतुमात्मानिमिति; ते ह ऊचुः— यथा कला इत्यादि, कलाः मूकाः यथा लोकेऽवदन्तो वाचा जीवन्ति । कथम १ प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चश्चषा शृण्यन्तः श्रोत्रेण ध्या-यन्तो मनसा, एवं सर्वकरणचेष्टां कुर्वन्त इत्यर्थः । एवं वय-मजीविष्मेत्यर्थः । आत्मनोऽश्रेष्ठतां प्राणेषु बुद्धा प्रविवेश ह वाक् पुनः स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः । समानमन्यत चक्षुर्होचकाम श्रोत्रं होचकाम मनो होचकामेत्यादि । यथा वाला अमनसः अप्रकृत्यमनस इत्यर्थः ॥

अथ ह प्राण उचिक्रमिषन्स यथा सु-हयः पड्ढीशशङ्कन्संखिदेदेवमितरान्प्राणा-न्समखिदत्तर् हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२॥

एवं परीक्षितेषु वागादिषु, अथ अनन्तरं ह स मुख्यः प्राणः उचिकामिषन उत्क्रिमितुमिच्छन किमकरोदिति, उ-च्यते—यथा छोके सुहयः शोभनोऽश्वः पड्वीशशक्रून पाद-बन्धनकीछान् परीक्षणाय आरूढेन कशया हतः सन सं-

खिदेत् समुत्खनेत् समुत्पाटयेत्, एविमतरान्वागादीन्प्राणान् समिखदत् समुद्धृतवान् । ते प्राणाः संचाछिताः सन्तः स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमानाः अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं त-मूचुः—हे भगवन् एधि भव नः स्वामी, यस्मात् त्वं नः श्रेष्ठोऽसिः; मा च अस्मादेहादुक्कमीरिति ॥

अथ हैनं वागुवाच यद्हं वसिष्ठोऽिसा त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच य-दहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥

अथ हैन १ श्रोत्रमुवाच यद्ह १ संप-द्स्मि त्वं तत्संपद्सीत्यथ हैनं मन उवाच यद्हमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥

अथ हैनं वागादयः प्राणस्य श्रेष्ठत्वं कार्येण आपादयन्तः आहु:— बिलिमिव हरन्तो राज्ञे विद्यः । कथम् १ वाक् तावदु-वाच—यद्हं विसष्ठोऽस्मि, यदिति कियाविशेषणम् , यद्वसिष्ठ-त्वगुणास्मीत्यर्थः ; त्वं तद्वसिष्ठः तेन विसष्ठत्वगुणेन त्वं तद्व-सिष्ठोऽसि तद्गुणस्त्वमित्यर्थः । अथवा तच्छव्दोऽपि कियाविशेषणमेव । त्वत्कृतस्त्वदीयोऽसौ विसष्ठत्वगुणोऽज्ञानान्ममेति मया अभिमत इत्येतत् । तथोत्तरेषु योज्यं चक्षुःश्रोत्रमनःसु ॥

न वै वाचो न चक्षु ५ षि न श्रोत्राणि

s. u. IV. 5

न मनार्मीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाच- क्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥

श्रुतेरिदं वच:— युक्तमिदं वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभिहि-तम्; यस्मान्न वै लोकं वाचो न चक्ष्तंषि न श्रोत्राणि न मनां-सीति वागादीनि करणान्याचक्षते लौकिका आगमज्ञा वा; किं तर्हि, प्राणा इत्येव आचक्षते कथयन्ति; यस्मात्प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि वागादीनि करणजातानि भवति; अतो मुख्यं प्राणं प्रत्यनुक्षपमेव वागादिभिकक्तमिति प्रकरणार्थमुपसंजिहीर्षिति।।

ननु कथिमदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहंश्रेष्ठतायै वि-वदन्त: अन्योन्यं स्पर्धेरिन्निति; न हि चक्षुरादीनां वाचं प्रत्या-ख्याय प्रत्येकं वदनं संभवित; तथा अपगमो देहात् पुनः प्रवे-शो ब्रह्मगमनं प्राणम्तुतिर्वोपपद्यते। तत्र अग्न्यादिचेतनावदे-वताधिष्ठितत्वात् वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत् सिद्धमागमतः। तार्किकसमयविरोध इति चेत् देहे एकस्मिन्ननेकचेतनावत्त्वे, न, ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात्। ये तावदिश्वरमभ्युपग-च्छन्ति तार्किकाः, ते मनआदिकार्यकरणानामाध्यात्मिकानां बाह्यानां च पृथिव्यादीनामीश्वराधिष्ठितानामेव नियमेन प्रवृ-त्तिमिच्छन्ति— रथादिवत्। न च अस्माभिः अग्न्याद्याश्चेतना-वत्योऽपि देवता अध्यात्मं भोक्त्यः अभ्युपगम्यन्ते; किं तिर्हं, कार्यकरणवतीनां हि तासां प्राणैकदेवताभेदानामध्यात्माधिभू-ताधिदैवभेदकोटिविकल्पानामध्यक्षतामात्रेण नियन्ता ईश्वरो-Sभ्युपगम्यते। स ह्यकरणः, 'अपाणिपादो जवनो प्रहीता पद्रय-त्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः 'इत्यादिमन्त्रवर्णातः 'हिरण्यगर्भ पद्यत जायमानम् ' 'हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्वम् ' इत्यादि च श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति । भोक्ता कर्मफलसंबन्धी देहे तद्वि-लक्षणो जीव इति वक्ष्यामः । वागादीनां च इह संवादः कारिप-तः विदुषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठतानिर्घारणार्थम्— यथा लोके पुरुषा अन्योन्यमात्मनः श्रेष्ठतार्थे विवद्मानाः कं-चिद्भणविशेषाभिज्ञं पृच्छन्ति को नः श्रष्टो गुणैरिति ; तेनोक्ता ऐकैकइयेन अदः कार्य साधयितुमुद्यच्छत, येनादः कार्य सा-ध्यते, स वः श्रेष्ठः–इत्युक्ताः तथैवोद्यच्छन्तः आत्मनोऽन्यस्य वा श्रेष्ठतां निर्धारयन्ति—तथेमं संव्यवहारं वागादिषु कल्पि-तवती श्रुति: — कथं नाम विद्वान् वागादीनामेकैकम्याभावे-ऽपि जीवनं दृष्टं न तु प्राणस्येति प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्येतेति। तथा च श्रुति: कौषीतिकनाम्— 'जीवित वागपेतो मूकान्हि पदयामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पदयामो जीवति श्रोत्रा-पेतो बिधरान्हि पदयामा जीवति मनोपेतो बालान्हि पदया-मो जीवति बाहुचिछन्नो जीवत्यूरुचिछन्नः ' इस्याद्या ॥ इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः॥

म होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्रा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥ १॥

स होवाच मुख्यः प्राणः — किं मेऽत्रं भविष्यतीति। मुख्यं प्राणं प्रष्टागमिव कल्पयित्वा वागादीन्प्रतिवक्तृनिव कल्पयन्ती श्रुतिराह — यदिदं लोकेऽन्नजातं प्रसिद्धम् आ श्वभ्यः श्वभिः सह आ शकुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्राणिनां यदन्त्रम्, तत् तवान्नमिति होचुर्वागाद्य इति । प्राणख सर्वमन्नं प्राणोऽत्ता सर्वस्यान्नस्येत्येवं प्रतिपत्तये कल्पिताख्यायिकाक्त्पाद्यावृत्य स्वेन श्रुतिक्षेण आह — तद्वै एतत् यत्किचिन्नोके प्राणाभिरन्नमद्यते, अनस्य प्राणस्य तदन्नं प्राणोनैव तदद्यत इत्यर्थः । सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थम् अन इति प्राणस्य प्रत्यक्षं नाम । प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगितरेव स्यात् । तथा च सर्वान्नानामत्तुनीममहणमितीदं प्रत्यक्षं नाम अन इति सर्वान्नानामत्तुनीममहणमितीदं प्रत्यक्षं नाम अन इति सर्वान्नानामत्तुः साक्षादिभधानम् । न ह वा एवंविदि यथोक्त-प्राणविदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्तेति, त-रिसन्नवंविदि ह वै किंचन किंचिदिप प्राणिभिरदां सर्वैः

अनन्नम् अनद्यं न भवति, सर्वमेवंविद्यन्नं भवतीत्यर्थः, प्राण-भूतत्वाद्विदुषः, 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति ' इत्युप-क्रम्य 'एवंविदो ह वा उदेति सूर्य एवंविद्यस्तमेति ' इति श्रुत्यन्तरात् ॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यती-त्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतद्दिशष्यन्तः पुरस्ताचोपरिष्टाचाद्भिः परिद्धित लम्भु-को ह वासो भवत्यनग्रो ह भवति ॥ २॥

स ह उवाच पुनः प्राणः — पूर्ववदेव करुपना । किं में वासो भविष्यतीति । आप इति होचुर्वागादयः । यस्मात्प्राण-स्य वासः आपः, तस्माद्धा एतद्शिष्यन्तः भोक्ष्यमाणा भुक्त-वन्तश्च ब्राह्मणा विद्वांसः एतत्कुर्वन्ति । किम् १ अद्भिः वास-स्थानीयाभिः पुरस्तात् भोजनात्पूर्वम् उपरिष्ठाच भोजनाद्ध्वं च परिद्धति परिधानं कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य । लम्भुको लम्भनशीलो वासो ह भवति ; वाससो लब्धेव भवती-त्यर्थः । अनग्नो ह भवति । वाससो लम्भुकत्वेनार्थसिद्धैवानम्रतेति अनग्नो ह भवतीत्युक्तरीयवानभवतीत्येतत् ॥

भोक्ष्यमाणस्य मुक्तवतश्च यदाचमनं शुद्धयर्थे विज्ञातम्, तस्मिन् प्राणस्य वास इति दर्शनमात्रमिह विधीयते—अद्भिः परिद्धतीति; न आचमनान्तरम्—यथा लौकिकै: प्राणिभि-रद्यमानमन्नं प्राणस्येति दर्शनमात्रम्, तद्वत्; किं मेऽन्नं किं मे वास इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्यत्वात् । यद्याचमनमपूर्वं ता-द्थ्येन क्रियेतः तदा कृम्याद्यन्नमपि प्राणम्य भक्ष्यत्वेन विहितं स्थात् । तुल्ययोर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रतिवचनयोः प्रकरणस्य विज्ञानार्थत्वादर्धजरतीयो न्यायो न युक्तः कल्पियतुम् । यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्रायत्यार्थं प्राणस्यानग्नतार्थं च न भव-तीत्युच्यते, न तथा वयमाचमनमुभयार्थं त्रूमः । किं तर्हि, प्रायत्यार्थाचमनसाधनभूता आपः प्राणस्य वास इति दर्शनं चोद्यत इति त्रूमः । तन्न आचमनस्योभयार्थत्वप्रसङ्गदोषचो-दना अनुपपन्ना । वासोऽर्थं एव आचमने तद्शनं स्यादिति चेत्, न, वासोज्ञानार्थवाक्ये वासोर्थापूर्वाचमनविधाने तत्रा-नग्नतार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः । आचमनस्य तदर्थत्व-मन्यार्थत्वं चेति प्रमाणाभावात् ॥

तद्वैतत्सत्यकामो जावालो गोश्चतये वैयाधपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्का-य स्थाणवे ब्रूयाज्ञायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३॥

तदेतत्प्राणदर्शनं स्तूयते । कथम् ? तद्धैतत्प्राणदर्शनं सत्य-

कामो जाबालो गोश्रुतये नाम्ना वैयाद्यपद्याय व्याद्यपदोऽपस्यं वैयाद्यपद्यः तस्मै गोश्रुसाख्याय उक्त्वा उवाच अन्यदिष वक्ष्यमाणं वचः । किं तदुवाचेति, आह—यद्यपि शुष्काय स्थाणवे एतद्दर्शनं ब्रूयात्प्राणिवत्, जायेरन् उत्पद्येरम्नेव अस्मन्स्थाणौ शाखाः प्ररोहेयुश्च पलाशानि पत्राणि, किमु जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति ॥

यथोक्तप्राणदर्शनिवदः इदं मन्थाख्यं कर्म आरभ्यते—
अथ यदि महाज्ञिगामिषेदमावास्यायां
दीक्षित्वा पौर्णमास्या ए रात्नौ सर्वोषधस्य
मन्थं दिधमधुनोरुपमध्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय
स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥४॥

अथ अनन्तरं यदि महत् महत्त्वं जिगमिषेत् गन्तुमि-च्छेत्, महत्त्वं प्राप्तुं यदि कामयेतेत्यर्थः, तस्येदं कर्म विधी-यते । महत्त्वे हि सति श्रीरुपनमते । श्रीमतो हि अर्थप्राप्तं धनम्, ततः कर्मानुष्ठानम्, ततश्च देवयानं पितृयाणं वा पन्थानं प्रतिपत्स्यत इत्येतत्प्रयोजनमुररीकृत्य महत्त्वप्रेप्सोरिदं कर्म, न विषयोपभोगकामस्य । तस्यायं कालादिविधिरुच्यते— अमावास्यायां दीक्षित्वा दीक्षित इव भूमिशयनादिनियमं कृत्वा तपोक्तपं सत्यवचनं ब्रह्मचर्यामित्यादिधर्मवान्भूत्वेत्सर्थः । न पुनर्देक्षमेव कर्मजातं सर्वमुपादत्ते, अतिद्वकारत्वान्मन्था-ख्यस्य कर्मणः । 'उपसद्वती ' इति श्रुत्यन्तरात् पयोमात्र-भक्षणं च शुद्धिकारणं तप उपादत्ते । पौर्णमास्यां रात्रौ कर्म आरभते—सर्वोषधस्य ब्राम्यारण्यानामोषधीनां यावच्छक्त्य-ल्पमल्पमुपादाय तिद्वतुषीकृत्य आममेव पिष्टं दिधमधुनोरौ-दुम्बरे कंसाकारे चमसाकारे वा पात्रे श्रुत्यन्तरात्प्रक्षिप्य उपमध्य अमतः स्थापयित्वा च्येष्टाय श्रेष्टाय स्वाहेत्यमावा-वसध्ये आज्यस्य आवापस्थाने हुत्वा स्नुवसंलम्नं मन्थे संपात-मवनयेत् संस्रवमधः पातयेत् ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्ना-वाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात-मवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

समानमन्यत्, वसिष्ठाय प्रतिष्ठायै संपदे आयतनाय स्वाहेति, प्रत्येकं तथैव संपातमवनयत् हुत्वा ॥

अथ प्रतिसुप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जप-

त्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिद् स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्येष्ठय ५ श्रेष्ठय५ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेद५ सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

अथ प्रतिसृत्य अभेरीषद्पसृत्य अञ्जलो मन्थमाधाय जपति इमं मन्नम्— अमो नामास्यमा हि ते; अम इति प्राणस्य नाम । अन्नेन हि प्राणः प्राणिति देहे इत्यतो मन्थद्रव्यं
प्राणस्य अन्नत्वात् प्राणत्वेन स्तूयते अमो नामासीति;
कुतः ? यतः अमा सह हि यस्मात्ते तव प्राणभूतस्य सर्वं
समस्तं जगदिद्म् , अतः । स हि प्राणभूतो मन्थो ज्येष्ठः
श्रेष्ठश्च; अत एव च राजा दीप्तिमान अधिपतिश्च अधिष्ठाय
पाल्लियता सर्वस्य । सः मा मामिष मन्थः प्राणो ज्येष्ठयादिगुणपूगमात्मनः गमयतु, अहमेवेदं सर्वे जगदसानि भवानि
प्राणवत् । इति-शब्दो मन्त्रपरिसमाष्ट्यर्थः ॥

अथ खल्वेतयर्ची पच्छ आचामित त-त्सवितुर्वृणीमह इत्याचामित वयं देवस्य भोजनिमत्याचामित श्रेष्ठ सर्वधातमिन त्याचामित तुरं भगस्य धीमहीति सर्व पिवति निर्णिज्य कथ्सं चमसं वा पश्चा-दग्नेः संविद्याति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पद्ये-त्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

अथ अनन्तरं खल एतया वक्ष्यमाणया ऋचा पच्छ: पादश: आचामति भक्षयति, मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकं प्रासं भक्षयति । तत् भोजनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः, प्राणमा-दिसं च एकीकुसोच्यते, आदिसस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि मन्थरूपमः येनान्नेन सावित्रेण भोजनेनोपभक्तेन वयं सवितृस्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः । देवस्य सवितुरिति पूर्वेण संबन्धः । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्नेभ्यः सर्वधा-तमं सर्वस्य जगतो धारयितृतमम् अतिशयेन विधातृत-ममिति वा; सर्वथा भोजनिवशेषणम्। तुरं त्वरं तूर्ण शीव्रमित्येतत्, भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेष:; धीमहि चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तं कर्म कृतवन्तो वयं तद्धीमहि चिन्तयेमहीति सर्वे च मन्थलेपं पिबति । निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं चमसं चमसाकारं वा औदुम्बरं पात्रम् ; पीत्वा आचम्य पश्चादग्ने: प्राकिशराः संविश्वति चर्माण वा अजिने स्थण्डिले केवलायां वा भूमो, वाचंयमो वाग्यतः सिन्नत्यर्थः, अप्रसाहो न प्रसह्यते नाभिभूयते स्ट्याद्यनिष्टस्वप्रदर्शनेन यथा, तथा सं-यतिचत्तः सिन्नत्यर्थः । स एवंभूतो यदि स्त्रियं पश्येत्स्वप्रेषु, तदा विद्यात्समृद्धं ममेदं कर्मेति ॥

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियथ् खप्तेषु पद्यति समृद्धिं तत्र जा-नीयात्तस्मिन्खप्तनिद्दीने तस्मिन्खप्तनिद-द्यीने ॥ ८ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

तदेतिसम्मर्थे एष ऋोको मन्त्रोऽपि भवति—यदा कर्मसु काम्येषु कामार्थेषु स्त्रियं स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु स्वप्नकालेषु वा परयति, समृद्धिं तत्र जानीयात्, कर्मणां फलनिष्पित्तर्भवि-ष्यतीति जानीयादित्यर्थ:; तिस्मस्त्र्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने सतीत्यभिप्राय:। द्विकृत्तिः कर्मसमास्यर्था।

इति द्वितीयखण्डभाष्यम्॥



तृतीयः खण्डः॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः संसारगतयो वक्तव्याः वैराग्यहेतो-र्मुमुक्षूणाम् इत्यत आख्यायिका आरभ्यते—

श्वेतकेतुई रिणेयः पञ्चालाना समिति-मेयाय त इपवाहणो जैवलिरुवाच कु-मारानु लाशिषत्पितेलानु हिभगव इति॥

श्वेतकेतुर्नामतः, ह इति ऐतिह्यार्थः, अरुणस्यापत्यमारुणिः तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां जनपदानां समितिं
सभाम् एयाय आजगाम । तमागतवन्तं ह प्रवाहणो नामतः जीवलस्यापत्यं जैवलिः उवाच उक्तवान—हे कुमार अनु त्वा त्वाम् अशिषत् अन्वशिषत् पिताः किमनुशिष्टस्त्वं पित्रेत्यर्थः। इत्युक्तः स आह—अनु हि अनुशिष्टोऽस्मि भगव इति सूचयन्नाह ॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृ-याणस्य च व्यावर्तना३ इति न भगव इति ॥ २॥ तं ह उवाच— यद्यनुशिष्टोऽसि, वेत्थ यदितः अस्माहो-कात् अधि ऊर्ध्व यत्प्रजाः प्रयन्ति यद्गच्छन्ति, तिंक जानीषे इत्यर्थः। न भगव इत्याह इतरः, न जानेऽहं तत् यत्प्रच्छिसि। एवं तिर्हे, वेत्थ जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्तन्त इति। न भगव इति प्रत्याह। वेत्थ पथोर्मार्गयोः सहप्रयाण-योदेंवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना व्यावर्तनिमतरेतर-वियोगस्थानं सह गच्छतामित्यर्थः।।

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पश्चम्यामाहुता-वापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥ ३॥

वेत्थ यथा अमौ लोकः पितृसंबन्धी— यं प्राप्य पुनरा-वर्तन्ते, बहुभिः प्रयद्भिरिप येन कारणेन न संपूर्यते इति । न भगव इति प्रत्याह । वेत्थ यथा येन क्रमेण पश्चम्यां पश्चसंख्याकायामाहुतौ हुतायाम् आहुतिनिर्वृत्ता आहुतिसा-धनाश्च आपः पुरुषवचसः पुरुष इत्येवं वचोऽभिधानं यासां हूयमानानां क्रमेण षष्टाहुतिभूतानां ताः पुरुषवचसः पुरुष-शब्दवाच्या भवन्ति पुरुषाख्यां लभन्त इत्यर्थः । इत्युक्तो नैव भगव इत्याह; नैवाहमत्र किंचन जानामीत्यर्थः ॥ अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो ही-मानि न विद्यात्कथ सोऽनुशिष्टो ब्रुवी-तेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय त इो-. वाचाननुशिष्य वाच किल मा भगवान्त्र-वीदनु त्वाशिषमिति ॥ ४॥

अथ एवमज्ञः सन किमनु कस्मात्त्वम अनुशिष्टोऽस्मीति-अवोचथा उक्तवानिसः; यो हि इमानि मया पृष्टान्यर्थजा-तानि न विद्यात न विज्ञानीयात्, कथं स विद्वत्सु अनुशि-ष्टोऽस्मीति बुवीत । इत्येवं स श्रेतकेतुः राज्ञा आयस्तः आ-यासितः सन् पितुरर्धे स्थानम् एयाय आगतवान्, तं च पितरमुवाच — अननुशिष्य अनुशासनमकृत्वैव मा मां किल भगवान् समावर्तनकालेऽब्रवीत् उक्तवान् अनु त्वाशिषम् अन्वशिषं त्वामिति ॥

पश्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्ते-षां नैकंचनाद्यकं विवक्तुमिति स होवा-च यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥ स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायाही चकार स ह प्रातः सभाग उद्याय तथ् होवाच मानुषस्य भगवन्गी-तम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमार-स्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रुहीति स ह कुच्छी बभूव ॥ ६॥

यतः पश्च पश्चसंख्याकान्त्रश्नान राजन्यबन्धुः राजन्या वन्धवोऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त इत्यर्थः, अत्राक्षीत पृष्टवान् । तेषां प्रश्नानां नैकंचन एकमि नाशकं न शक्तवानहं विवक्तुं विशेषणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः । स ह उवाच पिता— यथा मा मां वत्स त्वं तदा आगतमात्र एव एतान्त्र-श्रान् अवद उक्तवानिम—तेषां नैकंचन अशकं विवक्तुमिति, तथा मां जानीहि, त्वदीयाज्ञानेन लिङ्गेन मम तद्विषयम्ज्ञानं जानीहित्यर्थः । कथम् १ यथा अहमेषां प्रश्नानाम् एकंचन एकमि न वेद न जाने इति—यथा त्वमेवाङ्ग एतान्त्रश्लाम् न जानीषे, तथा अहमिष एतान्त्र जाने इत्यर्थः । अतो मय्यन्यथामावो न कर्तव्यः । कुत एतदेवम् १ यतो न जाने; यद्यहमिमान्प्रश्लाम् अवेदिष्यं विदितवानास्मि, कथं

ते तुभ्यं प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले पुरा नावक्ष्यं नोक्तवानिसा—इत्युक्तवा स ह गौतमः गोत्रतः राज्ञः जैवलेः अर्ध
स्थानम् एयाय गतवान । तस्मै ह गौतमाय प्राप्ताय अर्हाम्
अर्हणां चकार कृतवान । स च गौतमः कृताितिश्यः उपित्वा
परेद्युः प्रातःकाले सभागे सभां गते राज्ञि उदेयाय ।
भजनं भागः पूजा सेवा सह भागेन वर्तमानो वा सभागः
पूज्यमानोऽन्यैः स्वयं गौतमः उदेयाय राजानमुद्गतवान् । तं
होवाच गौतमं राजा— मानुषस्य भगवनगौतम मनुष्यसंबवित्तस्य प्रामादेः वरं वरणीयं कामं वृणीथाः प्रार्थयेथाः । स ह उवाच गौतमः— तवैव तिष्ठतु राजन् मानुषं
वित्तम्; यामेव कुमारस्य मम पुत्रस्य अन्ते सभीपे वाचं
पञ्चप्रश्रलक्षणाम् अभाषथाः उक्तवानिस्त, तामेव वाचं मे
महां बृहि कथय— इत्युक्तो गौतमेन राजा स ह कुच्छी
दुःखी बभूव— कथं त्विद्मिति ॥

त १ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तथ् होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्तवत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छ-ति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रज्ञा-सनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७॥

स ह कुच्छ्रीभूतः अप्रत्याख्येयं ब्राह्मणं मन्वानः न्यायेन विद्या वक्तव्येति मत्वा तं ह गौतमं चिरं दीर्घकालं वस-इत्येवमाज्ञापयांचकार आज्ञप्तवान् । यत्पूर्वे प्रख्यातवान राजा विद्याम्, यच पश्चाचिरं वसेत्याज्ञप्तवान्, तन्निमित्तं त्राह्मणं क्षमापयति हेतुवचनोक्त्या । तं ह उवाच राजा---सर्विविद्यो ब्राह्मणोऽपि सन् यथा येन प्रकारेण मा मां हे गौतम अवदः त्वम्-तामेव विद्यालक्षणां वाचं मे ब्रूहि-इत्यज्ञा-नात्, तेन त्वं जानीहि। तत्रास्ति वक्तव्यम्—यथा येन प्रका-रेण इयं विद्या प्राक्तवत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः, तथा एतत्प्रसिद्धं लोके यत:, तस्मादु पुरा पूर्व सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्र-जातेरेव अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणाम-भृत् बभृव ; क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमा-गता ; तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि ; त्वत्संप्रदानादृर्ध्वे त्रा-ह्मणानगमिष्यति ; अतो मया यदुक्तम , तत्क्षनतुमर्हसीत्यु-क्तवा तस्मै ह उवाच विद्यां गजा ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥



चतुर्थः खण्डः॥

'पञ्चम्यामाहुतावापः' इत्ययं प्रश्नः प्राथम्येनापाकियते, तदपाकरणमनु इतरेपामपाकरणमनुकूळं भवेदिति । अग्नि-होत्राहुत्योः कार्यारम्भो यः, स उक्तो वाजसनेयके— तं प्रति प्रश्नाः । उत्क्रान्तिराहुत्योगितिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुनरावृ-क्तिंकं प्रत्युत्थायी इति । तेषां च अपाकरणमुक्तं तंत्रैव— 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविश्वतस्ते अन्तरिक्षमाविश्वतस्ते अन्तरिक्षमवाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं मरीचीरेव शुक्रामाहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामतः' इत्यादिः; एवमेव पूर्वविद्वं तर्पयतस्ते तत आवर्तेते । इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविश्वतः । ततः स्त्रियमाविश्य छोकं प्रत्युत्थायी भविद्या इति । तत्र अग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेवंप्रकारं अवतीत्युक्तम् , इह तु तं कार्यारम्भमग्निहोत्रापूर्वविपरिणामळ-क्षणं पञ्चधा प्रविभज्य अग्नित्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्ति-साधनं विधित्सन् आह—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्या-दिख एव समिद्रइमयो धूमोऽहरर्चिश्चनद्र-मा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥

असौ वाव छोको गौतमाग्निरित्यादि । इह सायंप्रातर-मिहोबाहुती हुते पयआदिसाधने श्रद्धापुर:सरे आहवनीया-ग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविम्फुल्डिङ्गभाविते कर्त्रादिकारकभाविते च अन्तरिक्षक्रमेणोत्क्रम्य चुलोकं प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूते अ-प्समवायित्वादप्शब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुत्वाच श्रद्धाशब्दवाच्ये । तयोरधिकरण: अग्नि: अन्यच तत्संबन्धं समिदादीत्युच्यते । या च असावग्न्यादिभावना आहुत्यो:, सापि तथैव निर्दि-इयते। असौ वाव लोकोऽग्नि: हे गौतम—यथाग्निहोत्नाधिकर-णमाह्वनीय इह । तस्याग्नेर्द्युलोकाख्यस्य आदित्य एव स-मित्, तेन हि इद्ध: असौ छोको दीप्यते, अत: समिन्ध-नात् समिदादित्यः । रइमयो धूमः, तदुत्थानात्; समिधो हि धूम उत्तिष्ठति । अहराँच: प्रकाशसामान्यात्, आदि-त्यकार्यत्वाच । चन्द्रमा अङ्गारा:, अह्न: प्रशमेऽभिव्यक्ते:; अर्चिषो हि प्रशमेऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते । नक्षत्राणि विस्फु-लिङ्गाः, चन्द्रमसोऽवयवा इव विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्नति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तस्मिन्नेतम्भिन् यथोक्तलक्षणेऽमौ देवा यजमानप्राणा अग्न्यादिरूपा अधिदैवतम् । श्रद्धाम् अग्निहोत्नाहुतिपरिणामाव-स्थारूपाः सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभाविताः श्रद्धा उच्यन्ते, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यपां होम्य-तया प्रश्ने शुतत्वातः; 'श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य प्रणीय प्रचरन्ति ' इति च विज्ञायते । तां श्रद्धाम अत्रृपां जुह्वति; तस्या आहुतेः सोमो राजा अपां श्रद्धाशब्दवा-च्यानां चुळोकायौ हुतानां परिणाम: सोमो राजा संभवति-यथा ऋग्वेदादिपुष्परमा ऋगादिमधुकरोपनीताम्ते आदित्ये यशआदिकार्यं रोहितादिरूपछक्षणभारभन्ते इत्युक्तम्—नथमा अग्निहोत्राहुतिसमवायिन्यः सूक्ष्माः श्रद्धाशब्दवाच्या आपः द्युलोकमनुप्रविदय चान्द्रं कार्यमारभन्ते फलरूपमग्निहोत्रा-हुत्यो: । यजमानाश्च तत्कर्तार आहुतिमया आहुतिभावनाः भाविता आहुतिरूपेण कर्मणा आकृष्टा: श्रद्धाप्समवायिनो द्युळोकमनुप्रविदय सोमभूता भवन्ति । तद्थी हि तैरिप्रिहोत्रं हुतम् । अत्र तु आहुतिपरिणाम एव पश्चाग्निसंबन्धक्रमेण प्राधान्येन विवक्षित उपासनार्थं न यजमानानां गति:। तां त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरत्र वक्ष्यति, विदुषां च उत्तरा विद्याकृताम् ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम्॥

पश्चमः खण्डः॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायु-रेव समिदभ्रं धूमो विद्यदर्चिरज्ञानिरङ्गारा हाद्नयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

द्वितीयहोमपर्यायार्थमाह— पर्जन्यो वाव पर्जन्य एव गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्टग्रुपकरणाभिमानी देवताविशे-षः । तस्य वायुरेव समित्, वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते ; पुरोवातादिप्राबल्ये वृष्टिदर्शनात् । अभ्रं धूमः, धूमकार्यत्वाद्धमवच छक्ष्यमाणत्वात् । विद्युदर्चिः, प्रकाशसा-मान्यात् । अशनिः अङ्गाराः, काठिन्याद्विद्युत्संबन्धाद्वा । हादनयो विस्फुछिङ्गाः, हादनयः गर्जितशब्दाः मेघानाम् , विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥

तिसन्नेतिसन्नग्नौ देवाः सोम् रा-जानं जुह्नति तस्या आहुतेवर्षे सं-भवति॥२॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

तिसम्नेतिसम्मग्नो देवाः पूर्ववत्सोमं राजानं जुह्वति । तस्त्रा आहुतेर्वर्षे संभवति ; श्रद्धाख्या आपः सोमाकारपरि-णता द्वितीये पर्याये पर्जन्यागिन प्राप्य वृष्टित्वेन परिणमन्ते ॥ इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संव-त्सर एव समिदाकाद्यो धूमो रात्रिरर्चि-दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निरित्यादि पूर्ववत् । तस्याः पृथि-व्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित्, संवत्सरेण हि कालेन समिद्धा पृथिवी त्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति । आकाशो धूमः, पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते— यथा अग्नेर्धूमः । रात्रिर्राचः, पृथिव्या हि अप्रकाशात्मिकाया अनुरूपा राविः, तमोरूपत्वात्—अग्नेरिवानुरूपमार्चः । दिशः अङ्गाराः, उप-शान्तत्वसामान्यात् । अवान्तरिदशः विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्र-त्वसामान्यात् ।।

तस्मिन्नेतसिन्नग्नौ देवा वर्षे जुह्नति तस्या आहुतेरन्नथ् संभवति॥२॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

तस्मित्रिसादि समानम् । तस्या आहुतेरत्रं त्रीहियवादि संभवति ॥

इति षष्ट्रखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः॥

पुरुषो वाव गांतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्नाचिश्रक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्नि:। तस्य वागेव समित्, वाचा हि मुखेन समिध्यते पुरुषो न मूक:। प्राणो धूम:, धूम इव मुखान्निर्गमनात्। जिह्वा अचि:, छोहितत्वात्। चक्षुः अङ्गाराः, भास आश्रयत्वात्। श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विप्रकी-र्णत्वसाम्यात्।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्नति तस्या आहुते रेतः संभवति॥२॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

समानमन्यत् । अत्रं जुह्वति त्रीह्यादिसंस्कृतम् । तस्या आहुते रेतः संभवति ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम्॥

अष्टमः खण्डः॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिचदुपमन्त्रयते स धूमो योनि-रर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १॥

योषा वाव गौतमाग्निः । तस्या उपस्थ एव समित , तेन हि सा पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते । यदुपमन्त्रयते स धूमः, स्त्रीसंभवादुपमन्त्रणस्य । योनिर्राचः, लोहितत्वात् । यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः, अग्निसंबन्धात् । अभिनन्दाः सुखलवाः विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्रत्वात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्नाति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २॥

इति अष्ट्रमः खण्डः ॥

तस्मिन्नतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुते-र्गर्भः संभवतीति । एवं श्रद्धासोमवर्षान्नरेतोहवनपर्यायक्र- मेण आप एव गर्भीभूतास्ता: । तत्र अपामाहुतिसमवायि-त्वात् प्राधान्यविवक्षा— आपः पश्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति । न त्वाप एव केवलाः सोमादिकार्यमारभन्ते । न च आपोऽत्रिवृत्कृताः सन्तीति । त्निवृत्कृतत्वेऽपि विशेष-संज्ञालाभो दृष्टः—पृथिवीयमिमा आपोऽयमग्निरित्यन्यतम-बाहुल्यनिमित्तः । तस्मात्समुदितान्येव भूतान्यब्बाहुल्या-त्कर्मसमवायीनि सोमादिकार्योरम्भकाण्याप इत्युच्यन्ते । दृश्यते च द्रवबाहुल्यं सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहेषु । बहुद्रवं च श्रारं यद्यपि पार्थिवम् । तत्न पश्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतो-रूपा आपो गर्भीभूताः ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम्॥



नवमः खण्डः॥

इति तु पश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवच-सो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वानव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते १॥

इति तु एवं तु पश्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति व्याख्यातः एकः प्रश्नः । यतु चुलोकादिमां प्रत्यावृत्तयोराहुत्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमेण आविद्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति वाजसनेयके उक्तम् , तत्प्रासिङ्गकिमहोच्यते । इह च प्रथमे प्रश्ने उक्तम् — वेत्थ यदितोऽिध प्रजाः
प्रयन्तीति । तस्य च अयमुपक्रमः —स गर्भोऽपां पश्चमः परिणामविशेष आहुतिकर्मसमवायिनीनां श्रद्धाशब्दवाच्यानाम्
उल्बावृतः उल्बेन जरायुणा आवृतः वेष्टितः दश वा नव वा
मासान् अन्तः मातुः कुक्षौ शियत्वा यावद्वा यावता कालेन न्यूनेनातिरिक्तेन वा अथ अनन्तरं जायते ॥

उल्बावृत इत्यादि वैराग्यहेतोरिद्मुच्यते । कष्टं हि मातुः कुक्षौ मूत्रपूरीषवातिपत्तश्लेष्मादिपूर्णे तदनुलिप्तस्य गर्भस्यो-ल्बाग्जिपटावृतस्य लोहितरेतोग्जिचिबीजस्य मातुरिशतपी- तरसानुप्रवेशेन विवर्धमानस्य निरुद्धशक्तिबलवीर्यतेज:प्रज्ञा-चेष्टस्य शयनम् । ततो योनिद्वारेण पीड्यमानस्य कष्टतरा नि:सृतिर्जन्मेति वैराग्यं प्राह्यति, मुहूर्तमप्यसद्धं दश वा नव वा मासानिर्दीर्घकालमन्तः शयित्वेति च ॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

स एवं जातः यावदायुषं पुनः पुनर्घटीयन्नवद्गमनागमन् नाय कमे कुर्वन् कुलालचकवद्वा तिर्यग्ध्रमणाय यावत्कर्म-णोपात्तमायुः तावज्ञीवति । तमेनं श्लीणायुषं प्रेतं मृतं दिष्टं कर्मणा निर्दिष्टं परलोकं प्रति—यदि चेज्ञीवन् वैदिके कर्मणि ज्ञाने वा अधिकृतः— तमेनं मृतम् इतः अस्माद्शामात् अग्नये अग्न्यर्थम् ऋत्विजो हरन्ति पुता वा अन्त्यकर्मणे । यत एव इत आगतः अग्नेः सकाज्ञात् श्रद्धाद्याहुतिक्रमेण, यतश्च पश्चभ्योऽग्निभ्यः संभूतः उत्पन्नः भवति, तस्मै एव अग्नये हरन्ति स्वामेव योनिम् अग्निम् आपादयन्तीत्यर्थः ॥

इति नवमखण्डभाष्यम्॥

दशमः खण्डः॥

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्य-र्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणप-क्षाचान्षडुदङ्ङेति मासा ५स्तान् ॥१॥

मासेभ्यः संवत्सर^५ संवत्सरादादिख-मादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं त-त्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्ति' इत्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितोऽपाकर्तव्यतया। तत् तत्र लोकं प्रति उत्थितानाम् अधिकृतानां
गृहमेधिनां ये इत्थम् एवं यथोक्तं पञ्चामिदर्शनम्—द्युलोकाद्यमिभ्यो वयं क्रमेण जाता अमिस्वरूपाः पञ्चाग्न्यात्मानः—
इत्येवं विदुः जानीयुः। कथमवगम्यते इत्थं विदुरिति गृहस्था
एव उच्यन्ते नान्य इति १ गृहस्थानां ये त्वनित्थंविदः
केवलेष्टापूर्वद्त्तपराः ते धूमादिना चन्द्रं गच्छन्तीति वक्ष्यति।
ये च अरण्योपलक्षिता वैखानसाः परिव्राजकाश्च श्रद्धा तप

इत्युपासते, तेषां च इत्थंविद्भिः सह अर्चिरादिना गमनं वस्यति, पारिशेष्याद्शिहात्राहुतिसंबन्धाच गृहस्था एव गृह्य-न्ते-इत्थं विदुरिति । ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता प्रामश्रुत्या अरण्यश्रुत्या च अनुपलक्षिता विद्यन्ते, कथं पारिशेष्यसिद्धिः? नैष दोष: । पुराणस्मृतिप्रामाण्यात अर्ध्वरेतसां नैष्टिकब्रह्म-चारिणाम् उत्तरेणार्यम्णः पन्थाः प्रसिद्धः, अतः तेऽप्यरण्य-वासिभि: सह गमिष्यन्ति । उपकुर्वाणकास्तु स्वाध्यायग्रह्-णार्थी इति न विशेषनिर्देशार्हाः। ननु ऊर्ध्वरेतस्त्वं चेत् उत्तरमार्गप्रतिपत्तिकारणं पुराणस्मृतिप्रामाण्यादिष्यते, इत्थं-वित्त्वमनर्थकं प्राप्तम् । न, गृहस्थान्प्रत्यर्थवत्त्वात् । ये गृहस्था अनित्यंविद:, तेषां स्वभावतो दक्षिणो धूमादि: पन्था: प्रसिद्धः, तेषां य इत्थं विदुः सगुणं वा अन्यद्भद्ध विदुः, 'अथ यदु चैवास्मिञ्शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेव' इति छिङ्गात् उत्तरेण ते गच्छन्ति। ननु ऊर्ध्वरेतसां गृहस्थानां च समाने आश्रमित्वे ऊर्ध्वरेतसामेव उत्तरेण पथा गमनं न गृहस्थानामिति न युक्तम् अग्निहोत्रादिवैदिककर्मबाहुल्ये च सति ; नैष दोष:, अपूता हि ते--शत्रुमित्रसंयोगनिमित्तौ हि तेषां रागद्वेषौ, तथा धर्माधर्मौ हिंसानुप्रहिनिमत्तौ, हिंसानृतमायात्रह्मचर्यादि च बह्वशुद्धिकारणमपरिहार्य ते-

षाम् , अतोऽपूताः । अपूतत्वात् न उत्तरेण पथा गमनम् । हिंसानृतमायात्रह्मचर्यादिपरिहाराच शुद्धासानो हि इतरे, शत्रुमित्ररागद्वेषादिपरिहाराच विरजस:; तेषां युक्त उत्तर: पन्था: । तथा च पौराणिका:-- 'ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते इमशानानि भेजिरे। ये प्रजां नेषिरे धीरास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ' इत्याहु:। इत्यंविदां गृहस्थानामरण्यवासिनां च समानमार्गत्वेऽमृतत्वफले च सति, अरण्यवासिनां विद्यान-र्थक्यं प्राप्तम् ; तथा च श्रुतिविरोध:—' न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ' इति, 'स एनमविदितो न भुनक्ति ' इति च विरुद्धम् । न, आभूतसंप्रवस्थानस्यामृतत्वेन विव-क्षितत्वात् । तत्रैवोक्तं पौराणिकै:--- 'आभूतसंघ्नवं स्थान-ममृतत्वं हि भाष्यते ' इति । यच आत्यन्तिकममृतत्वम् , तद्-पेक्षया 'न तत्र दक्षिणा यन्ति ' 'स एनमविदितो न भुनिक ' इत्याद्याः श्रुतयः—– इत्यतो न विरोधः । 'न च पुन-रावर्तन्ते ' इति 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते 'इत्यादि-श्रुतिविरोध इति चेत्, न ; 'इमं मानवम्' इति विशेषणात् 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति' इति च । यदि हि एकान्तेनैव नावर्तेरन्, इमं मानवम् इह इति च विशेषणमनर्थकं स्यात्। इमिनह इत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत् , न ; अनावृत्तिशब्दे-

नैव नित्यानावृत्त्यर्थस्य प्रतीतत्वात् आकृतिकरुपना अन-र्थिका । अत: इमिमह इति च विशेषणार्थवत्त्वाय अन्यत्र आवृत्तिः कल्पनीया । न च सद्कमेवाद्वितीयमित्येवं प्रत्य-यवतां मूर्घन्यनाड्या अचिरादिमार्गेण गमनम् , 'ब्रह्मैव स-न्ब्रह्माप्येति ' 'तस्म।त्तत्सर्वमभवत् ' 'न तस्य उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्ते ' इत्यादिश्रुतिशंतेभ्यः । ननु तस्माज्जीवादुचिक्रमिषोः प्राणा नोत्क्रामन्ति सहैव ग-च्छन्तीत्ययमर्थः कल्प्यत इति चेत्; न, 'अत्रैव समवछी-यन्ते ' इति विशेषणानर्थक्यात्, ' सर्वे प्राणा अनूत्कामन्ति ' इति च प्राणैर्गमनस्य प्राप्तत्वात् । तस्मादुत्कामन्तीत्यनाशङ्कै-वैषा । यदापि मोक्षस्य संसारगितवैलक्षण्यात्प्राणानां जी-वेन सह आगमनमाशङ्क्षय तस्मान्नोत्क्रामन्तीत्युच्यते, तदा-पि 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । न च प्राणेवियुक्तस्य गतिरूपपद्यते जीवत्वं वा, सर्वगत-त्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात् प्राणसंबन्धमात्रमेव हि अ-मिविस्फुलिङ्गवज्ञीवत्वभेदकारणामित्यतः तद्वियोगे जीवत्वं गतिर्वा न शक्या परिकरुपयितुम्, श्रुतयश्चेत्प्रमाणम् । न च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो जीवाख्यः सदूपं छिद्रीकुर्वन् गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम् । तस्मात् 'तयोर्ध्वमायन्नमृ-

तत्वमेति' इति सगुणब्रह्मोपासकस्य प्राणै: सह नाड्या गम-नम्, सापेक्षमेव च अमृतत्वम्, न साक्षान्मोक्ष इति गम्यते, 'तद्पराजिता पृस्तदैरं मदीयं सरः' इत्यायुक्त्वा 'तेषामे-वैष ब्रह्मछोकः' इति विशेषणात् ॥

अतः पश्चिप्तिविदो गृहम्थाः, ये च इमे अरण्ये वान-प्रस्थाः परिव्राजकाद्म सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः श्रद्धा तप इत्येवमाद्युपासते श्रद्धधानास्तपिस्वनश्चेत्यर्थः ; उपासनशब्द-स्तात्पर्यार्थः ; इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासत इति यद्दत् । श्रुत्य-न्तरात् ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते, ते सर्वे अिच-षम् अर्चिरिभमानिनीं देवताम् अभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । समानमन्यत् चतुर्थगतिव्याख्यानेन । एष देवयानः पन्था व्याख्यातः सत्यलोकावसानः, न अण्डाद्विहः, 'यदन्तरा पितरं मातरं च' इति मन्त्रवर्णात् ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमि-त्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमा-द्रात्रि^{थ्} रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाचान्षड्द-क्षिणैति मासाथ्स्तात्रैते संवत्सरमभि-प्राप्तुवन्ति ॥ ३॥

अथेत्यर्थान्तरप्रस्तावनार्थः, य इमे गृहस्थाः प्रामे, श्राम इति गृहस्थानामसाधारणं विशेषणम् अरण्यवासिभ्यो व्या-वृत्त्यर्थम्— यथा वानप्रस्थपरित्राजकानामरण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्, तद्वत्; इष्टापूर्ते इष्टमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म, पूर्त वापीकूपतडागारामादिकरणम् ; दत्तं बहि-र्वेदि यथाशक्त्यहेँभ्यो द्रव्यसंविभागो दत्तम ; इति एवंविधं परिचरणपरित्राणादि उपासते, इति-शब्दस्य प्रकारदर्श-नार्थत्वात् । ते दर्शनवर्जितत्वाद्भृमं धूमाभिमानिनीं देवताम् अभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । तया अतिवाहिता धूमाद्रात्रि रात्रिदेवतां रात्रेरपरपक्षदेवताम् एवमेव कृष्णपक्षाभिमानिनीम् अपरपक्षात् यान्षण्मासान् दक्षिणा दक्षिणां दिशमेति सविता, तान्मासान् दक्षिणायनषण्मासाभिमानिनीर्देवताः पद्यन्त इत्यर्थः । संघचारिण्यो हि षण्मासदेवता इति मासानिति बहुवचनप्रयोग: तासु । नैते कर्मिण: प्रकृता: संवत्सरं संवत्सराभिमानिनीं देवतामभिप्राप्नुवन्ति । कुतः पुनः संवत्सरप्राप्तिप्रसङ्गः, यतः प्रतिषिध्यते १ अस्ति हि प्रस-ङ्ग:--संवत्सरस्य हि एकस्यावयवभूते दक्षिणोत्तरायणे, तत्र अर्चिरादिमार्गप्रवृत्तानामुद्गयनमासेभ्योऽवयविन: संवत्स-रस्य प्राप्तिरुक्ता ; अतः इहापि तद्वयवभूतानां दक्षिणायन- मासानां प्राप्तिं श्रुत्वा तद्वयविनः संवत्सरस्यापि पूर्ववत्प्रा-प्तिरापन्नेति । अतः तत्प्राप्तिः प्रतिषिध्यते— नैते संवत्सरम-भिप्राप्नुवन्तीति ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाका-शमाकाशाचन्द्रमसमेष सोमो राजा तदे-वानामन्नं नं देवा भक्षयन्ति ॥ ४॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशम् आकाशाचन्द्रमसम्। कोऽसौ, यस्तैः प्राप्यते चन्द्रमाः १ य एष दृश्यतेऽन्तरिश्ले सोमो राजा ब्राह्मणानाम्, तद्त्रं देवानाम्, तं चन्द्रमसमन्नं देवा इन्द्रादयो भक्षयन्ति। अतस्ते धूमादिना गत्वा चन्द्रभूताः कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते। ननु अनर्थाय इष्टादिकरणम्,
यचन्नभूता देवैर्भक्ष्यरन्। नैष दोषः, अन्नमित्युपकरणमात्रख्य विवक्षितत्वात्—न हि ते कबलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते।
किं तर्हि, उपकरणमात्रं देवानां भवन्ति ते, स्त्रीपशुभृत्यादिवत्, दृष्टश्चान्तशब्द उपकरणेषु— स्त्रियोऽन्नं पश्चोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञामित्यादि। न च तेषां स्त्र्यादीनां पुरुषोपभोग्यत्वेऽप्युपभोगो नास्ति। तस्मात्कर्मिणो देवानामुपभोग्या
अपि सन्तः सुखिनो देवैः कीडन्ति। शरीरं च तेषां सुखोपभोगयोग्यं चन्द्रमण्डले आप्यमारभ्यते। तदुक्तं पुरस्तात्—

श्रद्धाशब्दा आपो द्युलोकाग्नौ हुताः सोमो राजा संभव-तीति। ता आपः कर्मसमवायिन्यः इतरैश्च भूतैरनुगता द्युलोकं प्राप्य चन्द्रत्वमापन्नाः शरीराद्यारिम्भका इष्टाद्युपा-सकानां भवन्ति। अन्त्यायां च शरीराहुतावग्नौ हुतायाम-ग्निना द्यमाने शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सह ऊर्ध्व यज-मानगावेष्ट्य चन्द्रमण्डलं प्राप्य कुशमृत्तिकास्थानीया बाह्य-शरीरारिम्भका भवन्ति। तदारब्धेन च शरीरेण इष्टादि-फलमुपभुक्षाना आसते।।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वा-नं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाद्यामाकाद्या-द्वायुं वायुर्भत्वा घूमो भवति घूमो भू-त्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

यावत् तदुपभोगनिमित्तस्य कर्मणः क्षयः, संपतिनत येनेति संपातः कर्मणः क्षयः यावत्संपातं यावत्कर्मणः क्षय इत्यर्थः,
तावत् तिसंमश्चन्द्रमण्ळे उषित्वा अथ अनन्तरम् एतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गं पुनिनवर्तन्ते । पुनिनवर्तन्त इति प्रयोगात्पूर्वमप्यसक्चन्द्रमण्डळं गता निवृत्ताश्च आसन्निति गम्यते । तस्मादिह ळोके इष्टादिकर्मोपिचित्य चन्द्रं गच्छन्ति;
तत्क्ष्ये च आवर्तन्ते; क्षणमात्रमपि तत्र स्थातुं न छभ्यते,

स्थितिनिमित्तकर्मक्षयात् — स्नेहक्षयादिव प्रदीपस्य ॥

तत्र किं येन कर्मणा चन्द्रमण्डलमारूढस्तस्य सर्वस्य क्षये तस्मादवरोहणम् , किं वा सावशेष इति । किं ततः ? यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणः, चन्द्रमण्डलस्थस्यैव मोक्षः प्राप्नोति ; तिष्ठतु तावत्तत्रैव, मोक्षः स्यात् , न वेति ; तत आगतस्य इह शरीरोपभोगादि न संभवति । 'तत: शेषेण ' इत्यादिसमृतिविरोधश्च स्यात् । निन्वष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि संभ-वन्ति, न च तेषां चन्द्रमण्डले उपभोगः, अतोऽक्षीणानि तानि: यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारूढ:, तान्येव क्षीणानीत्य-विरोध:: शेषशब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्यादविरुद्ध:: अत एव च तत्रैव मोक्षः स्यादिति दोषाभावः; विरुद्धाने-कयोन्युपभोगफलानां च कर्मणाम् एकैकस्य जन्तोरारम्भक-त्वसंभवात् । न च एकस्मिश्जन्मनि सर्वकर्मणां क्षय उपप-द्यते, ब्रह्महत्यादेश्च एकैकस्य कर्मण अनेकजन्मारम्भकत्वस्म-रणात् , स्थावरादिप्राप्तानां च अत्यन्तमृढानामुत्कर्षहेतोः कर्मण आरम्भकत्वासंभवात् । गर्भभूतानां च स्रंसमानानां कर्मासंभवे संसारानुपपत्तिः। तस्मात् न एकस्मिश्जन्मनि सर्वे-षां कर्मणामुपभोगः ॥

यत् कैश्चिदुच्यते— सर्वकर्माश्रयोपमर्देन प्रायेण कर्म-णां जन्मारम्भकत्वम् । तत्र कानिचित्कर्माण्यनारम्भक-त्वेनैव तिष्ठन्ति कानिचिज्जनम आरभन्त इति नोप-पद्यते, मरणस्य सर्वकर्माभिव्य अकत्वात् , स्वगोचराभिव्य-ज्जकप्रदीपवदिति । तदसत्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युप-गमात-- हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे देशकालनिमित्तावरुद्ध-त्वात्सर्वासनोपमर्दः कस्यचित्कचिद्रभिव्यक्तिर्वा सर्वात्मनोप-पद्यते, तथा कर्मणामपि साश्रयाणां भवेत्— यथा च पूर्वोनुभूतमनुष्यमयूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृताः विरुद्धानेक-वासनाः मर्कटत्वप्रापकेन कर्मणा मर्कटजन्म आरभमाणेन नोपमृद्यन्ते — तथा कर्मण्यप्यन्यजन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपमृ-द्यन्त इति युक्तम् । यदि हि सर्वाः पूर्वजन्मानुभववासनाः उपमृद्येरन् , मर्कटजन्मनिमित्तेन कर्मणा मर्कटजन्मन्यार्ब्धे मर्कटस्य जातमात्रस्य मातुः शाखायाः शाखान्तरगमने मातुरुद्रसंलग्नत्वादिकौशलं न प्राप्नोति, इह जन्मन्यनभ्य-स्तत्वात् । न च अतीतानन्तरजन्मानि मर्कटत्वमेव आसी-त्तस्येति शक्यं वक्तुम् , 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व-प्रज्ञा च ' इति श्रुतेः । तस्माद्वासनावन्नाशेषकर्मोपमर्दे इति शेषकर्मसंभवः । यत एवम् , तस्माच्छेषेणोपभुक्तात्कर्मणः

खि.

संसार उपपद्मत इति न कश्चिद्विरोध: ॥

कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्त इति, उच्यते— यथेतं यथागतं निवर्तन्ते । ननु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादा-काशमाकाशाचनद्रमसमिति गमनक्रम उक्त:, न तथा नि-वृत्ति:; किं तर्हि, आकाशाद्वायुमित्यादि; कथं यथेतमित्यु-च्यते । नैष दोष:, आकाशप्राप्तेस्तुल्यत्वात्पृथिवीप्राप्तेश्च । न च अत्र यथेतमेवेति नियम:, अनेवंविधमपि निवर्तन्ते: पुनर्निवर्तन्त इति तु नियमः। अत उपलक्षणार्थमेतत्- यद्यथे-तमिति । अतो भौतिकमाकाशं तावत्प्रतिपद्यन्ते — यास्तेषां चन्द्रमण्डले शरीरारिम्भका आप आसन , तास्तेषां तत्रोप-भोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये विलीयन्ते-घृतसंस्थानमिवाग्नि-संयोगे, ता विलीना अन्तरिक्षस्था आकाशभूता इव सुक्ष्माः भवन्ति । ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति, वायुप्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चामुतश्च ऊह्यमानाः ताभिः सह क्षीणकर्मा वायुभूतो भवति । वायुर्भृत्वा ताभिः सहैव धूमो भवति । धूमो भूत्वा अभ्रम् अब्भरणमात्ररूपो भवति ॥

अश्रं भ्रुत्वा मेघो भवति मेघो भ्रुत्वा प्रवर्षति त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्प-तयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु

दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमन्ति यो रेतः सिश्रति तद्भूय एव भवति ॥ ६॥

अभ्रं भूत्वा तत: सेचनसमर्थी मेघो भवति; मेघो भूत्वा उन्नतेषु प्रदेशेष्वथ प्रवर्षति; वर्षधारारूपेण शेषकर्मा पततीत्यर्थ: । त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इत्येवंप्रकारा जायन्ते ; क्षीणकर्मणामनेकत्वात् बहुवचननि-र्देश:। मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वात् एकवचननिर्देश:। य-स्माद्गिरितटदुर्गनदीसमुद्रारण्यमरुदेशादिसंनिवेशसहस्राणिव-र्षधाराभिः पतितानाम्, अतः तस्माद्धेतोः वै खळु दुर्निष्प्र-पतरं दुर्निष्क्रमणं दुर्नि:सरणम् — यतो गिरितटादुद्कस्रो-तसोह्यमाना नदी: प्राप्नुवन्ति, तत: समुद्रम्, ततो मकरादि-भिर्भक्ष्यन्ते ; तेऽप्यन्येन ; तत्रैव च सह मकरेण समुद्रे विळीनाः समुद्राम्भोभिर्जलधरैराकृष्टाः पुनर्वर्षधारांभिर्मरुदेशे शिलातटे वा अगम्ये पतितास्तिष्ठन्ति, कदाचिद्यालमृगादि-पीता भक्षिताश्चान्यै: तेऽप्यन्यैरित्येवंप्रकारा: परिवर्तेरन; कदाचिद्भक्ष्येषु स्थावरेषु जातास्तत्रैव शुब्येरन्; भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेत:सिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव, बहुत्वा-त्स्थावराणाम्-इत्यतो दुनिष्क्रमणत्वम् । अथवा अतः अस्मा-द्वीहियवादिभावात् दुर्निष्प्रपतरं दुर्निर्गमतरम् । दुर्निष्प्रपत- रमिति तकार एको छुप्तो द्रष्टव्य:; ब्रीहियवादिभावो दु-र्निष्प्रपत:, तस्मादपि दुर्निष्प्रपताद्रेत:सिग्देहसंबन्धो दुर्निष्प्र-पततर इत्यर्थ:; यस्मादृर्ध्वरेतोभिर्बाछै: पुंस्त्वरहितै: स्थवि-रैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते, अनेकत्वादन्नादानाम् । कदाचित्काकतालीयवृत्त्या रेत:सिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा, तदा रेत:सिग्भावं गतानां कर्मणो वृत्तिलाभ: । कथम् १ यो यो हि अन्नमत्ति अनुशियभि: 'संश्लिष्टं रेत:सिक्, यदच रेतः सिञ्चति ऋतुकाले योषिति, तङ्क्य एव तदाकृतिरेव भवति ; तद्वयवाकृतिभूयस्त्वं भूय इत्युच्यते रेतोरूपेण योषितो गर्भाशयेऽन्तः प्रविष्टोऽनुशयी, रेतसो रेतःसिगाकृतिभावि-तत्वात् , 'सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम् ' इति हि श्रुत्यन्त-रात् । अतो रेत:सिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थ: । तथा हि---पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवाक्नतिरेव न जात्यन्तराक्नतिः, तस्माद्यक्तं तद्भूय एव भवतीति ॥

ये त्वन्ये अनुश्यिभ्यश्चनद्रमण्डलमनारुह्य इहैव पापकर्म-भिघोंरैब्रीहियवादिभावं प्रतिपद्यन्ते, पुनर्मनुष्यादिभावम्, तेषां नानुशयिनामिव दुर्निष्प्रपतरम्। कस्मात् १ कर्मणा हि तैब्रीहियवादिदेह उपात्त इति तदुपभोगनिमित्तक्षये ब्रीह्यादि-स्तम्बदेहविनाशे यथाकर्मार्जितं देहान्तरं नवं नवं जल्ल्काव- त्संक्रमन्ते सविज्ञाना एव 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमे-वान्ववकामति ' इति श्रुत्यन्तरात् । यद्यप्युपसंहृतकरणाः सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति, तथापि स्वप्नवत् देहान्तरप्राप्तिनि-मित्तकर्मोद्घावितवासनाज्ञानेन सविज्ञाना एव देहान्तरं गच्छन्ति, श्रुतिप्रामाण्यात् । तथा अचिरादिना धूमादिना च गमनं स्वप्न इवोद्भूतविज्ञानेन, लब्धवृत्तिकर्मनिमित्तत्वा-द्गमनस्य। न तथा अनुशयिनां त्रीह्यादिभावेन जातानां सविज्ञानमेव रेत:सिग्योषिदेहसंबन्ध उपपद्यते, न हि त्रीह्यादिलवनकण्डनपेषणादौ च सविज्ञानानां स्थितिरस्ति। ननु चन्द्रमण्डलाद्प्यवरोहतां देहान्तरगमनस्य तुल्यत्वात् जॡकावत्सविज्ञानतेव युक्ता, तथा सति घोरो नरका-नुभव इष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रमण्डलादारभ्य प्राप्तो याव-द्वाह्मणादिजन्म ; तथा च सति, अनर्थायैव इष्टापू-तींद्युपासनं विहितं स्यात्; श्रुतेश्च अप्रामाण्यं प्राप्तम्, वैदिकानां कर्मणाम् अनर्थानुबन्धित्वात्। न, वृक्षारोहण-पतनवद्विशेषसंभवान् देहादेहान्तरं प्रतिपित्सोः कर्मणो लब्धवृत्तित्वात् कर्मणोद्भावितेन विज्ञानेन सविज्ञानत्वं यु-क्तम् — वृक्षाप्रमारोहत इव फल्लं जिघृक्षोः । तथा अर्चिरा-दिना गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेत्; धूमादिना च चन्द्रमण्ड- लमारुरुक्षताम् । न तथा चन्द्रमण्डलाद्वरुरुक्षतां वृक्षाया-दिव पततां सचेतनत्वम् — यथा च मुद्गराद्यभिहतानां तद-भिघातवेदनानिमित्तसंमूर्छितप्रतिबद्धकरणानां खदेहेनैव दे-शादेशान्तरं नीयमानानां विज्ञानशून्यता दृष्टा, तथा चन्द्र-मण्डलात मानुषादिदेहान्तरं पति अवरुरुक्षतां स्वर्गभोग-निमित्तकर्मश्रयात् मृदिताब्देहानां प्रतिबद्धकरणानाम् । अत: ते अपरित्यक्तदेहबीजभूताभिरद्भि: मूर्छिता इव आका-शादिक्रमण इमामवरुख कर्मनिमित्तजातिस्थावरदेहैं: संश्लि-ष्यन्ते प्रतिबद्धकरणतया अनुद्भूतविज्ञाना एव । तथा छवन-कण्डनपेषणसंस्कारभक्षणरसादिपरिणामरेत:सेककाळेषु मृ-र्छितवदेव, देहान्तरारम्भकस्य कर्मणोऽल्रब्धवृत्तित्वात् । देह-बीजभूताप्संबन्धापरित्यागेनैव मर्वास्ववस्थासु वर्तन्त इति जलूकावत् चेतनावत्त्वं न विरुध्यते । अन्तरास्रं त्वविज्ञानं मूर्छितवदेवे सदोष:। न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वे-नोभयहेतुत्वं शक्यमनुमातुम्, हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् । ' अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्न तीर्थेभ्यः ' इति श्रुतेः शास्त्रचोदि-ताया हिंसाया न अधर्महेतुत्वमभ्युपगम्यते। अभ्युपगतेऽप्य-धर्महेतुत्वे मन्नैर्विषादिवत् तदपनयोपपत्तेः न दुःखकार्यारम्भ-णोपपत्तिः वैदिकानां कर्मणाम् --- मन्नेणेव विषभक्षणस्येति।। तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापचेरन्द्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपू-यां योनिमापचेरञ्थयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७॥

तत् तत्र तेष्वनुशियनां ये इह छोके रमणीयं शोभनं चरणं शीछं येषां ते रमणीयचरणेनोपछिक्षितः शोभनोऽनुश्यः पुण्यं कर्म येषां ते—रमणीयचरणाः उच्यन्ते; क्रौर्यानृतमायावर्जितानां हि शक्य उपछक्षियतुं शुभानुशयसद्भावः; तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डछे भुक्तशेषेण अभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदिति क्रियाविशेषणम्, ते रमणीयां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्येरन् प्राप्नुयुः ब्राह्मणयोनिं वा क्षित्रययोनिं वा वैश्वययोनिं वा स्वकर्मानुरूपेण । अथ पुनर्ये तिष्ट्रपरीताः कपूयचरणोपछिश्वतकर्माणः अशुभानुशया अभ्याशो ह यत्ते कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन् कपूयामेव धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा स्वरुर्योनिं वा चण्डालयोनिं वा स्वकर्मानुरूपेणैव ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमा-नि श्चुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भव-न्ति जायस्व श्रियस्वेत्येतत्तृतीय स्थानं तेनासी लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्से-त तदेष श्लोकः ॥ ८॥

ये तु रमणीयचरणा द्विजातयः, ते स्वकर्मस्थाश्चेदिष्टादिकारिणः, ते धूमादिगत्या गच्छन्त्यागच्छन्ति च पुनः
पुनः, घटीयन्त्रवत् । विद्यां चेत्प्राप्नुयुः, तदा अर्चिरादिना
गच्छन्ति; यदा तु न विद्यासेविनो नापि इष्टादिकर्म सेवन्ते,
तदा अथैतयोः पथोः यथोक्तयोर्र्चिर्धूमादिलक्षणयोः न कतरेण अन्यतरेण चनापि यन्ति । तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि
दंशमशककीटादीन्यसकृदावर्तीनि भवन्ति । अतः उभयमागेपरिश्रष्टा हि असकृज्ञायन्ते म्नियन्ते च इत्यर्थः । तेषां जननमरणसंततेरनुकरणमिद्मुच्यते । जायस्य म्नियस्य इति
ईश्वरनिमित्तचेष्टा उच्यते । जननमरणलक्षणेनैव कालयापना
भवति, न तु कियासु शोभनेषु भोगेषु वा कालोऽम्तीत्यर्थः ।
एतत् क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं
संसरताम्, येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति,

अनधिकृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति, ते-नासौ लोको न संपूर्यते । पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चामिविद्यया व्याख्यात: । प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृत:। दक्षिणो-त्तरयोः पथोर्व्यावर्तनापि- मृतानामग्रौ प्रक्षेपः समानः, ततो व्यावर्स अन्येऽचिरादिना यन्ति, अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तर-दक्षिणायने षण्मासान्त्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकम्—इति व्याख्याता । पुन-रावृत्तिरिप क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेण उ-का। अमुष्य लोकखापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्-तेनासौ लोको न संपूर्वत इति । यस्मादेवं कष्टा संसारगति:, तस्माज्जुगुप्सेत । यस्माच जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते च घोरे दुस्तरे प्रवेशिता:— सागर इव अगाधेऽप्रवे निराशाश्चोत्तरणं प्रति, तस्माचैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत घृणी भवेत्— मा भूदेवंविधे संसारमहोदधौ घोरे पात इति । तदेतस्मिन्नर्थे एषः ऋोकः पश्चामिविद्या-स्तुतये ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबध्श्च गुरो-स्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पश्चमश्चाचरथ स्तैरिति ॥ ९ ॥ स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, सुरां पिवन् ब्रा-ह्मणः सन्, गुरोश्च तल्पं दारानावसन्, ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता चेत्येते पतन्ति चत्वारः । पश्चमश्च तैः सह आचर-ब्रिति ॥

अथ ह य एतानेवं पश्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते ग्रुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १०॥

इति दश्चमः खण्डः ॥

अथ ह पुनः यो यथोक्तान्पश्चामीन्वेद, स तैरप्याचरन् महापातिकिभिः सह न पाप्मना लिप्यते, शुद्ध एव । तेन पश्चामिद्र्शनेन पावितः यस्मात्पूतः, पुण्यो लोकः प्राजाप-त्यादिर्यस्य सोऽयं पुण्यलोकः भवतिः य एवं वेद यथोक्तं समस्तं पश्चिभः प्रश्नैः पृष्टमर्थजातं वेद । द्विरुक्तिः समस्त-प्रश्निर्णयप्रदर्शनार्थो ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥



एकाद्शः खण्डः॥

दक्षिणेन पथा गच्छतामन्नभाव उक्तः—'तद्देवानामन्नम' 'तं देवा भक्षयन्ति' इति ; क्षुद्रजन्तुलक्षणा च कष्टा संसार-गतिरुक्ता । तदुभयदोषपरिजिहीर्षया वैश्वान्राक्तृभावप्रति-पत्त्यर्थमुक्तरो प्रनथ आरभ्यते, 'अत्म्यन्नं पद्म्यसि प्रियम' इत्यादिलिङ्गान । आख्यायिका तु सुखावबोधार्था विद्यासंप्र-दानन्यायप्रदर्शनार्था च—

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रसुम्नो भाल्लवेयो जनः शार्क-राक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महा-शाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाए-सां चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मोति ॥ १॥

प्राचीनशास्त्र इति नामतः, उपमन्योरपत्यमौपमन्यवः। सत्ययक्ञो नामतः, पुलुषस्यापत्यं पौलुषिः। तथेन्द्रसुन्नो नामतः, भक्षवेरपत्यं भाक्षविः तस्यापत्यं भाक्षवेयः। जन इति नामतः, शर्कराक्षस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः। बुिंडलो नामतः, अश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वनराश्वः। पश्चापि ते हैते महाशालाः महागृहस्था विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः संपन्ना इत्यर्थः, महाश्रोत्रियाः श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्ना इत्यर्थः, ते एवं-

भूताः सन्तः समेख संभूय कचित् मीमांसां विचारणां चकुः कृतवन्त इत्यर्थः । कथम् १ को नः अस्माकमासा किं ब्रह्म—इति ; आत्मब्रह्मशब्दयोरितरेतरिवशेषणिवशेष्यत्वम् । ब्रह्मोति अध्यात्मपरिच्छित्रमात्मानं निवर्तयति, आत्मेति च आत्मव्यतिरिक्तस्य आदित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं निवर्तयति । अभेदेन आत्मैव ब्रह्म ब्रह्मेव आत्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतिरिसद्धं भवति , 'मूर्घा ते व्यपतिष्यत् ' अन्धोऽभविष्यः ' इत्यादिलिङ्गात् ॥

ते ह संपाद्यांचऋरुद्दालको वै भगव-न्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वा-नरमध्येति तथ् हन्ताभ्यागच्छामेति तथ् हाभ्याजगमुः ॥ २॥

ते ह मीमांसन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः संपादयांचकुः संपादितवन्तः आत्मन उपदेष्टारम् । उद्दालको वै प्रसिद्धो नामतः, भगवन्तः पूजावन्तः, अयमारुणिः अरुणस्यापत्यं संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरम् अस्मद्भिप्रेतमध्येति स्मरित । तं हन्त इदानीमभ्यागच्छाम इत्येवं निश्चित्य तं ह अभ्याजग्मुः गतवन्तः तम् आरुणिम् ॥

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मा-

मिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्विमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनु-शासानीति॥३॥

स ह तान दृष्ट्वैव तेषामागमनप्रयोजनं बुद्धा संपादयां-चकार । कथम १ प्रक्ष्यन्ति मां वैश्वानरम् इमे महाज्ञालाः महाश्रोत्रियाः, तेभ्योऽहं न सर्विमिव पृष्टं प्रतिपत्स्ये वक्तुं नोत्सहे; अतः हन्ताहिमदानीमन्यम् एषामभ्यनुशासानि वक्ष्याम्युपदेष्टारिमिति ॥

तान्होवाचाश्वपतिचैं भगवन्तोऽयं कैके-यः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तथ् इन्ताभ्यागच्छामेति तथ् हाभ्याजग्मुः॥

एवं संपाद्य तान ह उवाच — अश्वपतिवें नामतः भग-वन्तः अयं केकयस्यापत्यं कैकेयः संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमध्येतीत्यादि समानम् ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगहीणि कारयां-चकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न में स्तेनो जनपदे न कदर्यों न मद्यपो नाना-हिताग्निनीविद्यान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदे-

s. u. iv. 8

कैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भ-गवद्भयो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥

तेभ्यो ह राजा प्राप्तेभ्यः पृथकपृथगर्हाणि अर्हणानि पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारयांचकार कारितवान्। स ह अन्येद्यः राजा प्रात: संजिहान उवाच विनयेन उपगम्य-एतद्धनं मत्त उपादध्वमिति । तै: प्रह्माख्यातो मिय दोषं पश्यन्ति नूनम्, यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनम् इति मन्वान: आत्मन: सद्वत्ततां प्रतिपिपादायिषन्नाह- न मे मम जनपदे स्तेन: परस्वहर्ता विद्यते; न कद्ये: अदाता सति विभवे; न मद्यपः द्विजोत्तमः सन्; न अनाहिताग्निः शतगुः; न अविद्वान् अधिकारानुरूपम्; न म्वैरी परदारेषु गन्ता; अत एव स्वैरिणी कुतः दुष्टचारिणी न संभवतीत्यर्थ:। तैश्च न वयं धनेनार्थिन इत्युक्तः आह— अरुपं मत्वा एते धनं न गृह्वन्तीति, यक्ष्यमाणो वै कतिभिरहोभिरहं हे भगव-न्तोऽस्मि । तद्र्थं क्लप्तं धनं मया यावदेकैकस्मै यथोक्तम् ऋत्विजे धनं दाखामि, तावत् प्रत्येकं भगवद्भयोऽपि दा-स्यामि । वसन्तु भगवन्तः, पदयन्तु च मम यागम् ॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तर् हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरर् संप्रत्यध्येषि

तमेव नो ब्रूहीति॥६॥

इत्युक्ताः ते ह ऊचुः — येन ह एव अर्थेन प्रयोजनेन यं प्रति चरेत् गच्छेत पुरुषः, तं ह एवार्थ वदेत् । इदमेव प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः सताम । वयं च वैश्वानर-ज्ञानार्थिनः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि सम्यग्जा-नासि । अतस्तमेव नः अम्मभ्यं ब्रुहि ।।

तान्होवाच प्रातवेः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वोह्हे प्रतिचक्रमिरे ता-न्हानुपनीयैवैतद्वाच ॥ ७॥

इत्युक्तः तान ह उवाच । प्रातः वः युष्मभ्यं प्रतिवक्तास्मि प्रतिवाक्यं दातास्मीत्युक्ताः ते ह राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समित्याणयः सामिद्धारहस्ताः अपरेद्युः पूर्वोह्वे राजानं प्रतिचक्रमिरे गतवन्तः । यत एवं महाशालाः महाश्रोत्रियाः ब्राह्मणाः सन्तः महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्धारहस्ताः जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनः विनयेनोपजग्मः । तथा अन्यैर्विद्योपादित्सुभिभैवितव्यम् । तेभ्यश्च अदाद्विद्याम् अनुपनीयैव उपनयनमकृत्वैव तान् । यथा योग्येभ्यो विद्याम् मदात्, तथा अन्येनापि विद्या दातव्येति आख्यायिकार्थः । एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति वक्ष्यमाणेन संवन्धः ॥ इति एकादशखण्डभाष्यम्॥

द्वाद्शः खण्डः॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति द्विमेव भगवो राजिन्निति होवाचैष वै स्रुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान-मुपास्से तस्मात्तव स्रुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते॥१॥

स कथमुवाचेति, आह— औपमन्यव हे कम आत्मानं वैश्वानरं त्वमुपास्से इति पप्रच्छ । नन्वयमन्याय:—आचार्यः सन् शिष्यं पृच्छतीति । नैष दोषः, 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्व वक्ष्यामि दित न्यायदर्शनात् । अन्यत्राप्याचार्यस्य अप्रतिभानवति शिष्ये प्रतिभोत्पादनार्थः प्रश्नो दृष्टोऽजात्वात्रोः, 'कैष तदाभृत्कुत एतदागात् ' इति । दिवमेव ग्रुलोक्सेव वैश्वानरमुपासे भगवो राजन इति ह उवाच । एष वै सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य सोऽयं सुतेजा इति प्रसिद्धो वैश्वानर आत्मा, आत्मनः अवयवभूतत्वात् । यं त्वम आन्तानम् आत्मैकदेशम उपास्से, तस्मान् सुतेजसो वैश्वानरस्य

उपासनात् तव सुतमभिषुतं सोमरूपं कर्मणि प्रसुतं प्रकर्षेण च सुतम् आसुतं च अहर्गणादिषु तव कुळे हश्यते; अतीव कर्मिणस्त्वत्कुळीना इत्यर्थः॥

अत्स्यन्नं पश्यासि प्रियमत्त्यन्नं पश्याति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपति-प्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

अत्स्यन्नं दीप्ताग्निः सन् पद्म्यसि च पुत्रपौत्रादि प्रिय-मिष्टम् । अन्योऽप्यन्त्यन्नं पद्म्यति च प्रियं भवत्यस्य सुतं प्रसुतमासुतिमत्यादि कर्मित्वं ब्रह्मवर्चसं कुळे, यः कश्चित् एतं यथोक्तम् एवं वैश्वानरसुपास्ते । मूर्धा त्वात्मनो वैश्वानरस्य एष न समस्तो वैश्वानरः । अतः समस्तबुद्ध्या वैश्वानरस्योपासनात् मूर्धा शिरस्ते विपरीतग्राहिणो व्यप-तिष्यत् विपतितमभविष्यत् यत् यदि मां नागतोऽभवि-ष्यः । साध्वकार्षाः यन्मामागतोऽमीत्यभिप्रायः ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम्॥

वयोद्शः खण्डः ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीन-योग्य कं त्वमात्मानसुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानसुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौछिषम—हे प्राचीनयोग्य कं त्वमा-त्मानमुपास्से इति; आदित्यमेव भगवो राजन इति ह उवाच। शुक्कनीलादिरूपत्वाद्विश्वरूपत्वमादित्यस्य, मर्वरूपत्वाद्वा, सर्वा-णि रूपाणि हि त्वाष्ट्राणि यतः, अतो वा विश्वरूप आदित्यः; त-दुपासनात् तव बहु विश्वरूपिमहासुत्रार्थमुपकरणं दृदयते कुले।।

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पर्यसि प्रियमन्यन्नं पर्यति प्रियं भवत्य-स्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वै-श्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवा-चान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति॥

किंच त्वामनु प्रवृत्तः अश्वतरीभ्यां युक्तो रथोऽश्वतरी-रथः दासीनिष्को दासीभिर्युक्तो निष्को हारो दासीनिष्कः। अत्स्यन्नमित्यादि समानम्। चक्षुर्वेश्वानरस्य तु सविता। तस्य समस्तबुद्धयोपासनात् अन्धोऽभविष्यः चक्षुर्हीनोऽभ-विष्यः यन्मां नागमिष्य इति पूर्ववत्।।

चतुर्दशः खण्डः ॥

अथ होवाचेन्द्रसुम्नं भास्नवेयं वैयाघ-पद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचेष वे पृथग्व-त्मीत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्वलय आयन्ति पृथग्रथश्रे-णयोऽनुयन्ति ॥ १॥

अथ ह उवाच इन्द्रद्युम्नं भाइवेयम्— वैयाघपद्य कं त्व-मात्मानमुपास्से इत्यादि समानम् । पृथग्वत्मा नाना वर्त्मानि यस्य वायोरावहोद्वहादिभिभेंदैः वर्तमानस्य सोऽयं पृथग्व-त्मा वायुः । नस्मान् पृथग्वर्त्मात्मनो वैश्वानरम्योपासनान् पृथ-क् नानादिकाः त्वां बळयः वस्नान्नादिलक्षणा बळयः आयन्ति आगच्छन्ति । पृथम्थश्रेणयः रथपङ्क्रयोऽपि त्वामनुयन्ति ॥

अत्स्यत्रं पद्यसि प्रियमन्यत्रं पद्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमि-ष्यद्यनमां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्स्यन्नमित्यादि समानम् । प्राणस्त्वेष आत्मन इति ह उवाच । प्राणस्ते तव उदक्रमिष्यन् उत्क्रान्तोऽभविष्यत् , यन्मां नागमिष्य इति ॥

पश्चद्दाः खण्डः॥

अथ होवाच जनक् शार्कराक्ष्य कं त्व-मात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वै-श्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मान्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १॥

अथ ह उवाच जनिमत्यादि समानम् । एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरः । बहुलत्वमाकाशस्य सर्वगतत्वात् बहुल-गुणोपासनाच । त्वं बहुलोऽसि प्रजया च पुत्रपौत्रादिलक्ष-णया धनेन च हिरण्यादिना ॥

अत्स्यन्नं पर्यास प्रियमत्त्यन्नं पर्याति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यर्शीर्य-चन्मां नागमिष्य इति ॥ २॥

इति पश्चदशः खण्डः ॥

संदेहस्त्वेष संदेह: मध्यमं शरीरं वैश्वानरस्व । दिहेरूप-चयार्थत्वात् मांसरुधिरास्थ्यादिभिश्च बहुलं शरीरं तत्संदेह: ते तव शरीरं व्यशीर्यत् शीर्णमभविष्यत् यन्मां नागमिष्य इति ॥ इति पञ्चदशस्वण्डभाष्यम् ।

षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्वि वै-याघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रिय-रात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तसात्त्वथ् रियमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

अथ ह उवाच बुडिलमाश्वतराश्विमित्यादि समानम्।
एष वै रियरात्मा वैश्वानरो धनरूपः। अच्छोऽत्रं ततो
धनमिति। तस्माद्रियमान धनवान त्वं पुष्टिमांश्च शरीरेण
पुष्टेश्चान्ननिमित्तत्वात्।।

अत्स्यन्नं पर्यसि प्रियमत्त्यन्नं पर्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-वमात्मानं वैश्वानरसुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्य-चन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥

बस्तिस्त्वेष आत्मनो वैश्वानरस्य, बस्तिः मूत्रसंग्रहस्थानम्, बस्तिस्ते व्यभेत्स्यत् भिन्नोऽभविष्यत् यन्मां नागमिष्य इति ॥ इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तद्शः खण्डः॥

अथ होवाचोदालकमारुणि गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भग-वो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वै-श्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

अतस्यन्नं पर्यासि प्रियमत्त्यन्नं पर्य-ति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्य-म्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

अथ ह उवाच उदालकिमित्यादि समानम् । पृथिवीमेव भगवो राजिन्निति ह उवाच । एष वै प्रतिष्ठा पादौ वैश्वा-नरस्य । पादौ ते व्यम्लास्येतां विम्लानावभविष्यतां ऋथी-भूतौ यन्मां नागिमिष्य इति ॥

इति सप्तद्शखण्डभाष्यम्॥

अष्टाद्शः खण्डः ॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेम-मात्मानं वैश्वानरं विद्यार्सोऽन्नमत्थ य-स्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मा-नं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु स-वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मखन्नमित्त ॥ १ ॥

तान् यथोक्तवैश्वानरदर्शनवतो ह उवाच— एते यूयम्, वै खिल्वस्मर्थकौ, यूयं पृथगिव अपृथक्सन्तिमममेकं वैश्वानर-मात्मानं विद्वांसः अन्नमत्थ, परिच्छिन्नात्मबुद्धयेत्येतत्—हिन्ति-दर्शन इव जास्म्याः। यस्त्वेतमेवं यथोक्तावयवैः सुमूर्धादिभिः पृथिवीपादान्तैर्विशिष्टमेकं प्रादेशमात्रं प्रादेशैः सुमूर्धादिभिः पृथिवीपादान्तैः अध्यात्मं मीयते ज्ञायत इति प्रादेशमात्रम्। मुखादिषु वा करणेष्वचृत्वेन मीयत इति प्रादेशमात्रः। सुलोका-दिपृथिव्यन्तप्रदेशपरिमाणो वा प्रादेशमात्रः। प्रकर्षेण शास्त्रण आद्दियन्त इति प्रादेश सुलोकादय एव तावत्परिमाणः प्रादे-शमात्रः। शास्त्रान्तरे तु मूर्धादिश्चिबुकप्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं कल्पयन्ति। इह तु न तथा अभिष्ठेतः, 'तस्य ह वा एतस्या- तमनः 'इत्याद्युपसंहारात्। प्रत्यगात्मत्तया अभिविमीयतेऽहमि-ति ज्ञायत इत्यभिविमानः तमेतमात्मानं वैश्वानरम्—विश्वान्न-रान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वात्मेष ईश्वरो वैश्वानरः, वि-श्वो नर एव वा सर्वात्मत्वात्, विश्वेवां नरैः प्रत्यगात्मत्या प्र-विभज्य नीयत इति वैश्वानरः तमेवमुपास्ते यः, सोऽदन अ-न्नादी सर्वेषु छोकेषु द्युळोकादिषु सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वे-ष्वात्मसु शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु, तेषु हि आत्मकल्पनाव्यप-देशः, प्राणिनामन्नमन्ति, वैश्वानरिवत्सर्वात्मा सन् अन्नमन्ति। न यथा अज्ञः पिण्डमात्राभिमानः सन् इत्यर्थः॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मृधेंव सुतेजाश्रक्षुर्विश्वरूपः प्राणः एथ-ग्वत्मीत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रिघः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलोंमानि ब-हिंद्दियं गाईपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः॥ २॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥

कस्मादेवम्? यस्मात्तस्य ह वै प्रकृतस्यैव एतस्य आ-त्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथ- ग्वर्त्मात्मा संदेह: बहुलो बस्तिरेव रिय: पृथिव्येव पादौ । अथवा विध्यर्थमेतद्वचनम्—एवमुपास्य इति । अथेदानीं वै-श्वानरिवदो भोजनेऽग्निहोत्रं संपिपाद्यिषन् आह्— एतस्य वैश्वानरस्य भोक्तुः उर एव वेदिः, आकारसामान्यात् । लोमानि वर्दिः, वेद्यामिवोरिस लोमान्यास्तीर्णानि दृश्यन्ते । हृद्यं गाईपत्यः, हृद्याद्धि मनः प्रणीतिमवानन्तरी भवति; अतोऽन्वाहार्यपचनोऽग्निः मनः । आस्यं मुखमाह्वनीय इव आह्वनीयो हूयतेऽस्मिन्नन्नभिति ।।

इति अष्टाद्राखण्डभाष्यम्॥



एकोनविंशः खण्डः ॥

तचद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्वोमीय स्यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्रा-णाय स्वाहेति प्राणस्तृष्यति ॥ १ ॥

तत् तत्रैवं सति यद्गकं प्रथमं भोजनकाले आगच्छेद्वो-जनार्थम्, तद्धोमीयं तद्धोतव्यम्, अग्निहोत्रसंपन्मात्रस्य वि-विक्षितत्वान्नाग्निहोत्राङ्गेतिकर्तव्यताप्राप्तिरिह; स भोक्ता यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां कथं जुहुयादिति, आह्— प्रा-णाय स्वाहेद्यनेन मन्त्रेण; आहुतिशब्दात् अवदानप्रमाणमन्नं प्रक्षिपेदित्यर्थ:। तेन प्राणस्तृप्यति।।

प्राणे तृष्यति चक्षुस्तृष्यति चक्षुषि तृष्यत्यादित्यस्तृष्यत्यादित्ये तृष्यति द्यौ-स्तृष्यति दिवि तृष्यन्त्यां यितंकच द्यौ-श्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तचृष्यति तस्यानु-तृप्तिं तृष्यति प्रजया पद्मुभिरन्नाचेन

तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥२॥

इति एकोनविंशः खण्डः ॥

प्राणे तृष्यित चक्षुस्तृष्यित, चक्षुषि तृष्यित आदित्यो द्यौश्चेत्यादि तृष्यित, यच्चान्यत् द्यौश्च आदित्यश्च स्वामित्वेना-धितिष्ठतः तच तृष्यिति, तस्य तृप्तिमनु स्वयं भुज्ञानः तृष्यिति एवं प्रत्यक्षम्। किं च प्रजादिभिश्च। तेजः श्रारिस्था दीप्तिः उज्ज्वलत्वं प्रागरुभ्यं वा, ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्याय-निमित्तं तेजः।।

इति एकोनविंशखण्डभाष्यम् ॥



विंशः खण्डः ॥

अथ यां ब्रितीयां जुहुयात्तां जुहुया-द्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृष्यति ॥ १ ॥

व्याने तृष्यति श्रोत्रं तृष्यति श्रोत्रे तृष्यति चन्द्रमास्तृष्यति चन्द्रमसि तृ-प्यति दिशस्तृष्यन्ति दिश्च तृष्यन्तीषु यितंकच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृष्यति तस्यानु तृप्तिं तृष्यति प्रजया पश्चिमरन्नाचेन तेजमा ब्रह्मवर्चसेनेति॥

इति विंशः खण्डः ॥

एकविंदाः खण्डः॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्-पानाय स्वाहेत्यपानस्तृष्यति ॥ १ ॥

अपाने तृष्यति वाक्तृष्यति वाचि तृष्यन्त्यामग्निस्तृष्यत्यग्नौ तृष्यति पृथिवी तृष्यति पृथिव्यां तृष्यन्त्यां यत्किंच पृथि-वी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तचृष्यति तस्यानु तृप्तिं तृष्यति प्रजया पशुभिरन्नाचेन तेज-सा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति एकविंदाः खण्डः ॥

द्वाविंशः खण्डः॥

अथ यां चतुर्थी जुहुयात्तां जुहुयात्स-मानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

समाने तृष्यति मनस्तृष्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्यति तृप्यन्त्यां यतिंकच विद्युच पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति त-स्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्ना-चेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

लयोविंदाः खण्डः ॥

अथ यां पश्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादु-दानाय खाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृ-प्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याका-शस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किच वायु-श्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं प्रजया पशुभिरन्नाचेन तेजसा ब्र-ह्मवर्चसेन ॥ २॥

अथ यां द्वितीयां तृतीयां चतुर्थी पश्चमीमिति समानम् ॥

इति त्रयोविंशखण्डभाष्यम्॥

चतुर्विशः खण्डः ॥

स य इदमविद्यानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोद्य भस्मनि जुहुयात्तादक्त-त्स्यात्॥१॥

म यः कश्चित इदं वैश्वानरदर्शनं यथोक्तम् अविद्वान्सन अग्निहोत्तं प्रसिद्धं जुहोति, यथा अङ्गारानाहुतियोग्यानपो-ह्यानाहुतिस्थाने भस्मिन जुहुयात, तादृक् तत्तुल्यं तस्य तद-ग्निहोत्रहवनं स्यात्, वैश्वानरिवदः अग्निहोत्रमपेक्ष्य— इति प्रसिद्धाग्निहोत्रिनिनद्या वैश्वानरिवदोऽग्निहोत्रं स्तूयते ॥

अथ य एतदेवं विद्वानिश्रहोत्रं जुहोति तस्र सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वा-त्मसु हुतं भवति ॥ २॥

अतश्च एतद्विशिष्टमग्निहोत्रम् । कथम् ? अथ य एतदेवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति, तस्य यथोक्तवैश्वानरविज्ञानवतः सर्वेषु लोकेष्वित्याद्यक्तार्थम् , हुतम् अन्नमित्त इत्यनयोरेकार्थ-त्वात् ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव १ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३॥

किंच तद्यथा इषीकायास्तूलम् अग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूरियत प्रद्धोत क्षिप्रम्, एवं ह् अस्य विदुषः सर्वात्मभूतस्य सर्वान्त्रानामत्तुः सर्वे निरविशिष्टाः पाप्मानः धर्माधर्माख्याः अने-कजन्मसंचिताः इह च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः ज्ञानसह्माविनश्च प्रदूयन्ते प्रदृष्टोरन् वर्तमानशरीरारम्भकपाप्मवर्जमः लक्ष्यं प्रति मुक्तेषुवत् प्रवृत्तफल्लात् तम्य न दाहः । य एतदेवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति मुङ्के ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोचिछ-ष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हु-त स्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४॥

स यद्यपि चण्डालाय उच्छिष्टानहाय उच्छिष्टं द्यात् प्रतिषिद्धमुच्छिष्टदानं यद्यपि कुर्यात्, आत्मिनि हैव अस्य चण्डालदेहस्थे वैश्वानरे तद्भुतं स्यात् न अधर्मनिमित्तम्— इति विद्यामेव स्तौति। तदेतस्मिन्स्तुत्यर्थे ऋोक: मन्त्रोऽप्येष भवति।।

यथेह श्रुधिता बाला मातरं पर्युपासत एव सर्वाणि भृतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

इति चतुर्विंशः खण्डः॥

यथा इह लोके क्षुधिता बुभुक्षिता बाला मातरं पर्यु-पासते—कदा नो माता अन्नं प्रयच्छतीति, एवं सर्वाणि भूता-न्यन्नादानि एवंविदः अभिहोत्रं भोजनमुपासते—कदा त्वसौ भोक्ष्यत इति, जगत्सर्वे विद्वद्वोजनेन तृप्तं भवतीत्यर्थः। द्विक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था।।

इति चतुर्विशसण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये पश्चमोऽध्यायः समाप्तः॥





॥ षष्ठोऽध्यायः ॥



तकेतुः ह आरुणेय आस इत्याद्यध्यायसं-बन्धः— 'सर्वे खिलवदं ब्रह्म तज्जलान्' इत्युक्तम्, कथंतस्मात् जगदिदं जायते तस्मि-न्नेव च लीयते अनिति च तेनैव इत्येतद्वक्त-

व्यम् । अनन्तरं च एकस्मिन्भुक्ते विदुषि सर्वे जगत्तृप्तं भवतीत्युक्तम्, तत् एकत्वे सति आत्मनः सर्वभूतस्थस्य उप-पद्यते, न आत्मभेदे; कथं च तदेकत्वमिति तद्थोंऽयं षष्ठो-ऽध्याय आरभ्यते—

श्वेनकेतुर्होरूणेय आस तथ् ह पितो-वाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्य न वै सो-म्यासात्कुलीनोऽनन्च्य ब्रह्मबन्धुरिव भ-वतीति ॥ १ ॥

पितापुत्राख्यायिका विद्यायाः सारिष्ठत्वप्रदर्शनार्था । श्वेतकेतुरिति नामतः, ह इत्यैतिह्यार्थः, आरुणेयः अरुणस्व

पौत्रः आस वभूव । तं पुत्रं ह आरुणिः पिता योग्यं विद्याभाजनं मन्वानः तस्योपनयनकालात्ययं च पश्यन् उवाच— हे श्वेतकेतो अनुरूपं गुरुं कुलस्य नो गत्वा वस ब्रह्मचर्यम्; न च एत्युक्तं यदस्मत्कुलीनो हे सोम्य अननूच्य अनधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्मणान्बन्धून्व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति । तस्य अतः प्रवासो अनुमीयते पितुः, येन स्वयं गुणवान्सन पुत्रं नोपनेष्यति ॥

स ह द्वाद्शवर्ष उपेख चतुर्वि ५ शति-वर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचा-नमानी स्तब्ध एयाय त ५ ह पितोबाच ॥

सः पित्रोक्तः श्वेतकेतुः ह द्वादशवर्षः सन् उपेस्य आ-चार्यं यावचतुर्विंशतिवर्षो वभूव, तावत् सर्वान्वेदान् चतुरो-ऽप्यधीत्य तदर्थं च बुद्धा महामनाः महत् गम्भीरं मनः यस्य असममात्मानमन्यैर्मन्यमानं मनः यस्य सोऽयं महा-मनाः अनूचानमानी अनूचानमात्मानं मन्यत इति एवं-शीलो यः सोऽनूचानमानी स्तब्धः अप्रणतस्वभावः एयाय गृहम् । तम् एवंभूतं ह आत्मनोऽननुरूपशीलं स्तब्धं मानिनं पुत्रं दृष्टा पितोवाच सद्धर्मावतारिचकीर्षया ॥ श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनू-चानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुत श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३॥

श्वेतकेतो यन्नु इदं महामनाः अनूचानमानी स्तब्धश्चासि, कस्तेऽतिशयः प्राप्तः उपाध्यायात्, उत अपि तमादेशं आदिश्यत इत्यादेशः केवलशास्त्राचर्योपदेशगम्यमित्येतत्, येन वा परं ब्रह्म आदिश्यते स आदेशः तमप्राक्ष्यः पृष्टवानस्याचार्यम्? तमादेशं विशिनष्टि— येन आदेशेन श्रुतेन अश्रुतमपि अन्यच्लूतं भवति अमतं मतम् अतर्कितं तर्कितं भवति अविज्ञातं विज्ञातं अनिश्चितं निश्चितं भवतीति । सर्वानपि वेदानधीत्य सर्वं च अन्यद्वेद्यमधिगम्यापि अकृतार्थ एव भवति यावदात्मतत्त्वं न जानातीत्याख्यायिकातोऽवगम्यते । तदेतदद्भुतं श्रुत्वा आह्, कथं नु एतदप्रसिद्धम् अन्यविज्ञानेनान्यद्विज्ञातं भवतीति ; एवं मन्वानः पृच्छति— कथं नु केन प्रकारेण हे भगवः स आदेशो भवतीति ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वे मृन्म-

यं विज्ञात १ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेलेव सल्यम् ॥ ४॥

यथा स आदेशो भवति तच्छृणु हे सोम्य—यथा छोके एकेन मृत्पिण्डेन रुचककुम्भादिकारणभूतेन विज्ञातेन सर्वमन्यत्तिद्विकारजातं मृन्मयं मृद्विकारजातं विज्ञातं स्यात् । कथं मृत्पिण्डे कारणे विज्ञाने कार्यमन्यद्विज्ञातं स्यात् ? नैष दोष:, कारणेनानन्यत्वात्कार्यस्य । यन्मन्यसे अन्यिम्मिन्वज्ञातेऽन्यन्न ज्ञायत इति—सत्यमेवं स्यात् , यद्यन्यत्कारणात्कार्यं स्यात् , न त्वेवमन्यत्कारणात्कार्यम् । कथं तहींदं छोके—इदं कारणमयमस्य विकार इति श्रृणु । वाचारम्भणं वागारम्मणं वागालम्बनमित्येतत् । कोऽसौ श विकारो नामधेयं नामैव नामधेयम् , स्वार्थे धेयप्रत्ययः, वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वित्त ; परमार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकेव तु सत्यं वस्त्वित्त ।।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वे लोह-मयं विज्ञात एस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५॥ यथा सोम्य एकेन लोहमणिना सुवर्णापण्डेन सर्वमन्य- द्विकारजातं कटकमुकुटकेयूरादि विज्ञातं स्यात् । वाचार-म्भणमित्यादि समानम् ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्व काष्णीयसं विज्ञात स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसामित्येव सख-मेव सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

यथा सोम्य एकेन नखनिक्चन्तनेनोपळिक्षितेन कुष्णाय-सिपण्डेनेत्यर्थ:; सर्वं काष्णीयसं कृष्णायसिवकारजातं वि-ज्ञातं स्यात् । समानमन्यत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं दार्ष्टी-न्तिकानेकभेदानुगमार्थम् , दृढप्रतीत्यर्थं च । एवं सोम्य स आदेश:, यः मयोक्तः भवति । इत्युक्तवित पितरि, आह इतर:—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतद्वेदिषु-र्यद्वयेतद्वेदिष्यन्कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवा स्त्वेव मे तह्रवीत्विति तथा सो-म्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

न वै नूनं भगवन्तः पूजावन्तः गुरवः मम ये, ते एतत् यद्भवदुक्तं वस्तु नावेदिषुः न विज्ञातवन्तः नूनम्। यत् यदि हि अवेदिष्यन् विदितवन्तः एतद्वस्तु, कथं मे गुणवते भक्तायानुगताय नावक्ष्यन् नोक्तवन्तः, तेनाहं मन्ये— न विदितवन्त इति। अवाच्यमपि गुरोर्न्यग्भावमवादीत् पुन-गुरुकुळं प्रति प्रेषणभयात्। अतो भगवांस्त्वेव मे महां तद्वस्तु, येन सर्वज्ञत्वं ज्ञातेन मे स्यात्, तद्ववीतु कथयतु; इत्युक्तः पितोवाच— तथास्तु सोम्येति।।

इति प्रथमखण्डभाष्यम्॥



द्वितीयः खण्डः॥

सदेव सोम्येदमय आसीदेकमेवादि-तीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमय आसी-देकमेवादितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥१॥

सदेव सदिति अस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतमेकं निरश्वनं निरवयवं विज्ञानम्, यदवगम्यते सर्ववेदान्तेभ्यः। एव-शब्दः अवधारणार्थः। किं तदविधयत
इति, आह— इदं जगत्, नामरूपिक्रयाविद्वकृतभुपलभ्यते
यत्, तत्सदेवासीत् इति आसीच्छब्देन संबध्यते। कदा
सदेवेदमासीदिति, उच्यते— अग्रे जगतः प्रागुत्पत्तेः।
किं नेदानीमिदं सत्, येन अग्रे आसीदिति विशेष्यते !
न। कथं तर्हि विशेषणम् ! इदानीमपीदं सदेव, किंतु
नामरूपिवशेषणविद्दंशब्दबुद्धिविषयं च इतीदं च भवति।
प्रागुत्पत्तेस्तु अग्रे केवलसच्छब्दबुद्धिमात्रगम्यमेवेति सदेवेदमप्र आसीदित्यवधार्यते। न हि प्रागुत्पत्तेः नामवद्रूपवद्धा
इदमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्रकाले इव। यथा सुषुप्रादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छिति सुषुप्रे सन्मात्रमेव केवलं
विस्त्वित, तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः। यथा इदमुच्यते

लोके—पूर्वाह्वे घटादि सिसृक्षुणा कुलालेन मृत्पिण्डं प्रसा-रितमुपलभ्य प्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागतः अपराह्ने तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेद्भिन्नं कार्यमुपलभ्य मृदेवेदं घटशरा-वादि केवलं पूर्वाह्व आमीदिति, तथा इहाप्युच्यते— सद्वेद्मय आसीदिति । एकमेवेति । स्वकार्यपतितमन्यन्ना-म्तीति एकमेवेत्युच्यते । अद्वितीयमिति । मृद्यतिरेकेण मृद: यथा अन्यद्भटाचाकारेण परिणमयितृकुलालाविनि-मित्तकारणं दृष्टम् , तथा सद्यानिरेकेण सत: महका-रिकारणं द्वितीयं वम्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यते - अद्वि-तीयमिति, नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यते इत्यद्वितीयम् । ननु वैशेषिकपक्षेऽपि सत्सामानाधिकरण्यं सर्वस्योपपद्यते, द्रव्यगुणादिषु सच्छव्दबुद्धधनुवृत्तेः— सद्रव्यं सन्गुण: स-त्कर्मेत्यादिदर्शनान् । सत्यमेवं म्यादिदानीम् ; प्रागुत्पत्तेस्तु नै-वेदं कार्यं सदेवासीदित्यभ्युपगम्यते वैद्येषिकै:, प्रागुत्पत्त: का-र्यस्यासत्त्वाभ्युपगमात् । न च एकमेव सद्द्वितीयं प्रागुत्पत्ते-रिच्छन्ति। तस्माद्वैशेषिकपरिकल्पितात्सतः अन्यत्कारणमिदं सदुच्यते मृदादिदृष्टान्तेभ्य:। तन् तत्र ह एतस्मिन्प्रागुत्पत्ते-र्वस्तुनिरूपणे एके वैनाजिका आहु: वस्तु निरूपयन्त:-असत् सद्भावमात्रं प्रागुत्पत्ते: इदं जगत् एकमेव अग्रे अद्वितीय- मासीदिति । सद्भावमात्रं हि प्रागुत्पत्तेस्तत्त्वं कल्पयन्ति बौद्धाः । न तु मत्प्रतिद्वनिद्व वस्त्वन्तरमिच्छन्ति । यथा स-श्वामदिति गृह्यमाणं यथाभूतं तद्विपरीतं तत्त्वं भवतीति नै-यायिका: । ननु मद्भावमात्रं प्रागुत्पत्तेश्चेद्भिप्रेतं वैना-शिकैः, कथं प्रागुत्पत्तेरिद्मासीद्सदेकमेवाद्वितीयं चेति कालसंबन्धः संख्यासंबन्धोऽद्वितीयत्वं च उच्यते तैः । बाढं न युक्तं तेषां भावाभावमात्रमभ्युपगच्छताम् । अस-त्त्वमात्राभ्युपगमोऽप्ययुक्त एव, अभ्युपगन्तुरनभ्युपगमानुप-पत्ते: । इदानीमभ्युपगन्ता अभ्युपगम्यते न प्रागुत्पत्तेरिति चेत्, न, प्रागुत्पत्तेः सद्भावस्य प्रमाणाभावात् । प्रागुत्पत्ते रसदेवेति कल्पनानुपपत्ति: । ननु कथं वस्त्वाकृते: शब्दार्थ-त्वे असद्क्रमेवाद्वितीयमिति पदार्थवाक्यार्थोपपत्तिः, तद्नु-पपत्तौ च इदं वाक्यमप्रमाणं प्रसब्येतेति चेत् , नैष दोष:, मद्गहणनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य । सदित्ययं तावच्छच्दः सदा-कृतिवाचक:। एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्देन समाना-धिकरणौ; तथेदमासीदिति च। तत्र नञ् सद्दाक्ये प्रयुक्तः सद्वाक्यमेवावलम्ब्य सद्वाक्यार्थविषयां बुद्धि सदेकमेवाद्वि-तीयमिदमासीदित्येवं लक्षणां ततः सद्वाक्यार्थात्रिवर्तयति, अश्वारूढ इव अश्वालम्बन: अश्वं तद्भिमुखविषयान्निवर्त-

यति— तद्वत् । न तु पुनः सद्भावमेव अभिधते । अतः पुरुषस्य विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थपरम् इदमसदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते । दर्शयित्वा हि विपरीतग्रहणं ततो निवर्तयितुं शक्यत इत्यर्थवत्त्वात् असदादिवाक्यस्य श्रीतत्वं प्रामाण्यं च सिद्धामित्यदोषः । तस्मात् असतः सर्वाभावरूपात् सत् विद्यमानम् जायत समुत्पन्नम् । अडभावः छान्दसः ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैव १ स्यादिति हो-वाच कथमसतः सज्जायेतेति । सन्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवादितीयम् ॥ २॥

तदेतद्विपरीतग्रहणं महावैनाशिकपक्षं दर्शियत्वा प्रतिषे-धित— कुतस्तु प्रमाणात्खलु हे सोम्य एवं स्यात् असतः सज्जायेत इत्येवं कुतो भवेत् १ न कुतिश्चित्प्रमाणादेवं संभवती-त्यर्थः । यदिष बीजोपमर्देऽङ्करो जायमानो दृष्टः अभावादे-वेति, तद्द्यभ्युपगमविकद्धं तेषाम् । कथम् १ ये ताबद्वीजावय-वाः बीजसंस्थानविशिष्टाः तेऽङ्करेऽप्यनुवर्तन्त एव, न तेषामुप-मर्दोऽङ्करजन्मनि । यत्पुनर्वीजाकारसंस्थानम् , तद्वीजावयव-व्यतिरेकेण वस्तुभूतं न वैनाशिकरभ्युपगम्यते, यदङ्करज-नमन्युपमृद्येत । अथ तदिस्त अवयवव्यतिरिक्तं वस्तुभूतम् , तथा च सति अभ्युपगमविरोधः । अथ संवृत्या अभ्युपगतं बीजसंस्थानरूपमुपमृद्यत इति चेत् , केयं संवृतिर्नाम-किम-सावभाव:, उत भाव: इति ? यद्यभाव:, दृष्टान्ताभाव: । अथ भाव:, तथापि नाभावादङ्करोत्पत्ति:, बीजावयवेभ्यो हि अङ्क-रोत्पत्ति:। अवयवा अप्युपमृद्यन्त इति चेत् , न, तद्वयवेषु तु-ल्यत्वात्। यथा वैनाशिकानां बीजसंम्थानरूपोऽवयवी नास्ति, तथा अवयवा अपीति तेषामप्युपमदीनुपपत्ति:। बीजावय-वानामपि सुक्ष्मावयवा: तद्वयवानामध्यन्ये सुक्ष्मतरावयवाः इस्रेवं प्रसङ्गस्यानिवृत्तेः सर्वत्रोपमद्गितुपपत्तिः । सद्भुद्धयतु-वृत्ते: सत्त्वानिवृत्तिश्चेति सद्घादिनां सत एव सदुत्पत्ति: से-त्स्यति । न तु असद्वादिनां दृष्टान्तोऽस्ति असतः सदुत्पत्तेः । मृत्पिण्डाद्भटोत्पत्तिर्दृश्यते सद्वादिनाम्, तद्भावे भावात्तदः भावे चाभावात् । यद्यभावादेव घट उत्पद्येत, घटार्थिना मृ्दिपण्डो नोपादीयेत, अभावशब्दबुद्धनुवृत्तिश्च घटादौ प्रम-इयेत ; न त्वेनद्गित ; अत: नामत: मदुत्पत्ति: । यद्प्याहु: मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेनिमित्तमिति मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेः कारणमुच्यते, न तु परमार्थत एव मृद्धटो वा अस्तीति, तदपि मृद्धुद्धिर्विच-माना विद्यमानाया एव घटबुद्धेः कारणमिति नामत: संदुत्पत्तिः । मृद्भटबुद्धयोः निमित्तनैमित्तिकतया आनन्त- र्यमात्रम् , न तु कार्यकारणत्विमिति चेत् , न, बुद्धीनां नैरन्तर्ये गम्यमाने वैनाशिकानां बहिर्द्देष्टान्ताभावात् । अत: कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यात् इति ह उवाच-कथं केन प्रकारेण असत: मज्जायेत इति ; असत: सद-त्पत्तौ न कश्चिदपि दृष्टान्तप्रकारोऽस्तीत्यभिप्राय:। एवमस-द्वादिपक्षमुन्मध्य उपसंहरति - मत्त्वेव सोम्येदमय आसी-दिति स्वपक्षमिद्धिम् । ननु मद्वादिनोऽपि सतः सदुत्पद्यते इति नैव दृष्टान्तोऽस्ति, घटाद्भदान्तरोत्पत्त्यदर्शनात् । सत्य-मेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते; किं तर्हि, सदेव संस्थाना-न्तरेणावतिष्ठते— यथा सर्पः कुण्डली भवति, यथा च मृत् चूर्णपिण्डघटकपालादिप्रभेदैः । यद्येवं सदेव सर्वप्रकारा-वस्थम्, कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदित्युच्ते १ ननु न श्रुतं त्वया, सदेवेत्यवधारणम् इदं-शब्दवाच्यस्य कार्यस्य । प्राप्तं तर्हि प्रागुत्पत्तेः असदेवासीत् न इदं-शब्दवाच्यम् , इदानी-मिदं जातामिति । न, सत एव इदं-राज्दबुद्धिविषयतया अवस्थानात्, यथा मृदेव पिण्डघटादिशब्दबुद्धिविषयत्वेना-वतिष्ठते- तद्वत् । ननु यथा मृद्वस्तु एवं पिण्डघटाद्यपि, तद्वत् सद्बुद्धरन्यबुद्धिविषयत्वात्कार्यस्य सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं स्यात्कार्यजातं यथा अश्वाद्गीः । न, पिण्डघटादीनामितरे-

तरव्यभिचारेऽपि मृक्ताव्यभिचारात् । यद्यपि घटः पिण्डं व्यभिचरित पिण्डश्च घटम्, तथापि पिण्डघटौ मृक्तं न व्यभिचरतः तम्मान्मृन्मात्रं पिण्डघटौ । व्यभिचरित त्वश्वं गौः अश्वो वा गाम् । तस्मान्मृद्यदिसंस्थानमात्रं घटाद्यः । एवं सत्संस्थानमात्रमिदं सर्वभिति युक्तं प्रागुत्पत्तेः सदेवेति, वाचारम्भणमात्रत्वाद्विकारसंस्थानमात्रस्य । नतु निरवयवं सत्, 'निष्कलं निष्क्रयं शान्तं निरवद्यं निरक्तनं दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इत्यादिश्रुतिभ्यः; निरवयवस्य सतः कथं विकारसंस्थानमुपपद्यते? नैष दोषः, रज्ज्वाद्यवयवभ्यः सर्पाद्यसंस्थानवत् बुद्धिपरिकल्पितेभ्यः सद्वयवभ्यः विकारसंस्थानापत्तेः । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' एवं सदेव सत्यम्— इति श्रुतेः । एकमेवाद्वितीयं परमार्थतः इदंबुद्धिकालेऽिप ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽ-सृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तद्पोऽसृजत । तस्माद्यत्र कच शोचिति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तद्ध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

तत् सत् ऐक्षत ईक्षां दर्शनं ऋतवत् । अतश्च न प्रधानं

सांख्यपरिकरिपतं जगत्कारणम् , प्रधानस्याचेतनत्वाभ्यपग-मात् । इदं तु सत् चेतनम्, ईक्षितृत्वात् । तत्कथमैक्षतेति, आह्— बहु प्रभूतं म्यां भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्परोय, यथा मृद्धटाद्याकारेण यथा वा रज्ज्वादि मर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन । असदेव तर्हि सर्वम , यद्ग्र्धते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण। न, सत एव द्वैतभेदेन अन्यथागृह्यमाणत्वान न असत्त्वं कम्यचित्कचिदिति ब्रमः। यथा सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं प-रिकरूप पुनस्तस्यैव प्रागुत्पत्ते: प्रध्वंसाचोर्ध्वम असत्त्वं ब्रुवंन तार्किका:, न तथा अस्माभि: कदाचित्कचिद्पि मतोऽन्य-दभिधानमभिधेयं वा वस्तु परिकल्प्यते । सदेव तु सर्वम-भिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्धया, यथा रज्जुरेव मर्प-बुद्धचा सर्प इत्यभिधीयते, यथा वा पिण्डघटादि मृदोऽन्यः ु बुद्धया पिण्डघटादिशब्देनाभिधीयते लोके । रज्जुविवेकद-र्शिनां तु मपीभिधानबुद्धी निवर्तेते. यथा च मृद्धिवेकद्र्शिनां घटादिशब्दबुद्धी, तद्वत सद्विवेकद्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धी निवर्तेते— 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनमा सह' इति, 'अनिरुक्तेऽनिलेयने' इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवमीक्षि-त्वा तत् तेजः असृजत तेजः सृष्टवत् । नतु 'तम्माद्वा एत-स्मादात्मन आकाश्चः संभूतः दित श्रुत्यन्तरे आकाशाद्वायुः ततस्तृतीयं तेज: श्रुतम्, इह कथं प्राथम्येन तस्मादेव तेज: सुज्यते तत एव च आकाशमिति विरुद्धम् ? नैष दोषः, आकाशवायुसर्गानन्तरं तत्सत् तेजोऽसृजतेति कल्पनोप-पत्ते:। अथवा अविवक्षित: इह सृष्टिक्रमः; सत्कार्यमिदं सर्वम् , अतः सदेकमेवाद्वितीयमिलेतद्विवक्षितम् , मुदादि-दृष्टान्तात् । अथवा त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात् तेजोबन्ना-नामेव सृष्टिमाचष्टे । तेज इति प्रसिद्धं छोके दग्धृ पक्त प्रकाशकं रोहितं चेति । तत् सत्सृष्टं तेजः ऐक्षत तेजोरू-पसंस्थितं सत् ऐक्ष्तेत्यर्थः । बहु स्यां प्रजायेयेति पूर्ववत् । तत् अपोऽसृजत आप: द्रवा: स्त्रिग्धा: स्यन्दिन्य: शुक्रा-श्चेति प्रसिद्धा छोके । यस्मात्तेजसः कार्यभूता आपः, तस्माद्यत्र कच देशे काले वा शोचित संतप्यते स्वेदते प्रस्विद्यते वा पुरुष: तेजस एव तन् तदा आप: अधिजायन्ते ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्नचः स्नाम प्रजाये-महीति ता अन्नमसृजन्त तसाचत्र क च वर्षति तदेव भृिषष्ठमत्रं भवत्रस्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः॥

ता आप ऐक्षन्त पूर्ववदेव अवाकारसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बह्वयः प्रभूताः स्थाम भवेम प्रजायेमहि उत्पद्यमहीति । ता अन्नमसृजन्त पृथिवीलक्षणम् । पार्थिवं हि अन्नम्; यस्मा-दिकार्यमन्नम्, तस्मात् यत्र क च वर्षति देशे तत् तत्रैव भूयिष्ठं प्रभूतमन्नं भवति । अतः अन्न्य एव तद्न्नाद्यमधि-जायते। ता अन्नमसृजन्तेति पृथिव्युक्ता पूर्वम्, इह तु दृष्टान्ते अन्नं च तदाद्यं चेति विशेषणात् न्नीहियवाद्या उच्यन्ते। अनं च गुरु स्थिरं धारणं कृष्णं च रूपतः प्रसिद्धम् ॥

ननु तेजः प्रभृतिषु ईक्षणं न गम्यते, हिंमादिप्रतिषेधाभावातृ त्रासादिकार्यानुपलम्भाच ; तत्र कथं तत्तेज ऐक्षतेत्यादि ? नैष दोषः । ईक्षितृकारणपरिणामत्वात्तेजः प्रभृतीनां सत एव ईक्षि-तुः नियतकमिविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच तेजः प्रभृति ईक्षते इव ईक्षते इत्युच्यते भूतम् । ननु सतोऽ प्युपचरितमेव ईक्षितृत्वम् । न । सदीक्षणस्य केवलशब्दगम्यत्वात् न शक्यमुपचरितं कल्पियतुम् । तेजः प्रभृतीनां त्वनुमीयते मुख्येक्षणाभाव इति युक्तमुपचरितं कल्पियतुम् । तेजः प्रभृतीनां त्वनुमीयते मुख्येक्षणाभाव इति युक्तमुपचरितं कल्पियतुम् । ननु सतोऽपि मृद्धत्कारणत्वा-दचेतनत्वं शक्यमनुमातुम् । अतः प्रधानस्वैवाचेतनस्य सतः श्रेतनार्थत्वात् नियतकालक्षमिविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच ऐक्षत इव ऐक्षतेति शक्यमनुमातुम् उपचरितमेव ईक्षणम् । दृष्टश्च

ल्लोके अचेतने चेतनवदुपचार:, यथा कूलं पिपतिषतीति तद्वत् सतोऽपि स्यात्। न, 'तत्सत्यं स आत्मा' इति तस्मिन्नात्मोपदेशात् । आत्मोपदेशोऽप्युपचरित इति चेत्-यथा ममात्मा भद्रसेन इति सर्वार्थकारिण्यनात्मनि आत्मोप-चार:-तद्वत्; न, सदस्मीति सत्सत्याभिसंधस्य 'तस्य तावदेव चिरम्' इति मोक्षोपदेशात्। सोऽध्युपचार इति चेत्-प्रधानात्माभिसंधस्य मोक्षसामीप्यं वर्तत इति मोक्षोपदेशो-Sप्युपचरित एव, यथा लोके प्रामं गन्तुं प्रस्थित: प्राप्तवा-नहं शाममिति ब्र्यात्त्वगापेक्ष्या- तद्वतः , न, येन विज्ञाते-नाविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्युपक्रमान् । सति एकस्मिन्वि-ज्ञाते सर्वे विज्ञातं भवति, तद्नन्यत्वात् सर्वस्याद्वितीयवच-नाच । न च अन्यद्विज्ञातव्यमविशष्टं श्रावितं श्रुत्या अनु-मेयं वा लिङ्गत: अस्ति, येन मोक्षोपदेश उपचरितः स्यात्। सर्वस्य च प्रपाठकार्थस्य उपचरितत्वपरिकल्पनायां वृथा श्रम: परिकल्पयितु: स्यात् , पुरुषार्थसाधनविज्ञानस्य तर्के-णैवाधिगतत्वात्तस्य । तस्माद्वेदप्रामाण्यात् न युक्तः श्रुतार्थ-परित्याग: । अत: चेतनावत्कारणं जगत इति सिद्धम् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥



तृतीयः खण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां वीण्येव बीजा-नि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिजमिति॥

तेषां जीवाविष्टानां खळु एषां पक्ष्यादीनां भूतानाम् , एषा-मिति प्रत्यक्षनिर्देशात्, न तु तेजःप्रभृतीनाम्, तेषां त्रिवृ-त्करणस्य वक्ष्यमाणत्वान् ; असति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशा-नुपपत्ति:। देवताशब्दशयोगाच तेज:प्रभृतिषु—' इमास्तिस्रो देवताः ' इति । तस्मात् तेषां खल्वेषां भूतानां पक्षिपशुम्था-वरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि भ-वन्ति । कानि तानीति, उच्यन्ते — आण्डजम् अण्डाजात-मण्डजम् अण्डजमेव आण्डजं पक्ष्यादि । पक्षिसपीदिभ्यो हि पृक्षिसपीद्यो जायमाना दृश्यन्ते । तेन पक्षी पक्षिणां बीजं सर्पः सर्पाणां बीजं तथा अन्यद्प्यण्डाज्जातं तज्जाती-यानां बीजिमित्यर्थः। ननु अण्डाज्जातम् अण्डजमुच्यते, अतोऽण्डमेव बीजमिति युक्तम् ; कथमण्डजं बीजमुच्यते ? सत्यमेवं स्यात्, यदि त्वदिच्छातन्त्रा श्रुतिः स्यात्; स्वतन्त्राः तु श्रुति:, यत आह अण्डजादोव बीजं न अण्डादीति। हर्यते च अण्डजाद्यभावे तज्जातीयसंतत्यभावः, न अण्डा-द्यभावे । अतः अण्डजादीन्येव बीजानि अण्डजादीनाम् ।

3.43

तथा जीवाजातं जीवजं जरायुजिमित्येतत्पुरुषपश्चादि । उ-द्भिज्जम् उद्भिनत्तीत्युद्भित स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जम् , धाना वा उद्भित् ततो जायत इत्युद्भिज्ञं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजामित्यर्थः । स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथा-संभवमन्तर्भावः । एवं हि अवधारणं त्रीण्येव बीजानीत्यु-पपन्नं भवति ॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो दे-वता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविदय नाम-रूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

सेयं प्रकृता सदाख्या तेजोबन्नयोनिः देवता उक्ता ऐक्षत इक्षितवती यथापूर्व बहु स्यामिति । तदेव बहुभवनं प्रयोजनं नाद्यापि निर्वृत्तम् इत्यतः ईक्षां पुनः कृतवती बहु-भवनमेव प्रयोजनमुररीकृत्य । कथम् १ हन्त इदानीमह-मिमाः यथोक्ताः तेजआद्याः तिस्रो देवताः अनेन जीवेनेति स्वबुद्धिस्थं पूर्वसृष्ट्यनुभूतप्राणधारणम् आत्मानमेव स्मर्नती आह— अनेन जीवेन आत्मनेति । प्राणधारणकत्री आत्मनेति वचनात् स्वात्मनोऽत्यतिरिक्तेन चैतन्यस्वरूपतया अविशिष्टेनेत्येतदृश्यिति । अनुप्रविश्य तेजोबन्नभूतमात्रासं-सर्गेण स्वध्विशेषविज्ञाना सती नाम च रूपं च नामरूपे

च्याकरवाणि विस्पष्टमाकरवाणि, असौनामायम् इदंरूप इति च्याकुर्यामित्यर्थः ॥

ननु न युक्तमिदम् — असंसारिण्याः सर्वेज्ञायाः देवता-या: बुद्धिपूर्वकमनेकशतसहस्रानर्थाश्रयं देहमनुप्रविश्य दु:-खमनुभविष्यामीति संकल्पनम्, अनुप्रवेशश्च स्वातन्त्रये सति । सत्यमेवं न युक्तं स्यात्-यदि स्वेनैवाविकृतेन रूपेणा-नुप्रविशेयं दुःखमनुभवेयमिति च संकल्पितवती; न त्वेवम्। कथं तर्हि ? अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविदय इति वच-नात् । जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम् , बुद्धधादिः भूतमात्रासंसर्गजनित:- आद्रेी इव प्रविष्ट: पुरुषप्रतिबिम्ब:, जलादिष्विव च सूर्यादीनाम् । अचिन्सानन्तशक्तिमसा देवतायाः बुद्धवादिसंबन्धः चैतन्याभामः देवतास्वरूप-विवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकरूप-प्रत्ययहेतु: । छायामात्रेण जीवरूपेणानुप्रविष्ठत्वात् देवता न दैहिकै: स्वत: सुखदु:खादिभि: संबध्यते— यथा पुरुषादि-त्याद्यः आद्शोद्कादिषु च्छायामात्रेणानुप्रविष्टाः आद्शोंद-कादिदोषैर्न संबध्यन्ते - तद्वद्देवतापि । 'सूर्यो यथा सर्व-लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषै:। एकस्तथा सर्वभू-तान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ' 'आकाशवत्सर्वग-

तश्च नित्यः' इति हि काठके; 'ध्यायतीव छेळायतीव ' इति च वाजसनेयके। ननु च्छायामात्रश्चेज्ञीवः मृषैव प्राप्तः, तथा पर-छोकेहछोकादि च तस्य। नैष दोषः, सदात्मना सत्यत्वा-भ्युपगमात्। सर्व च नामक्तपादि सदात्मनैव मत्यं विका-रजातम्, स्वतस्त्वनृतमेव, 'वाचारम्भणं विकारो नामधे-यम् ' इत्युक्तत्वात्। तथा जीवोऽपीति। यक्षानुरूपो हि बिह्मिति न्यायप्रसिद्धिः। अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं सतोऽन्यत्वे च अनृतत्विमिति न कश्चिद्दोषः तार्किकैरिहानुवक्तुं शक्यः, यथा इतरेतरिब-रुद्धद्वैतवादाः स्वबुद्धिविकल्पमात्रा अतत्त्विनष्ठा इति शक्यं वक्तुम् ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवा-णीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनै-व जीवेनात्मनानुप्रविद्य नामरूपे च्या-करोत्॥३॥

सैवं तिस्रो देवताः अनुप्रविश्य स्वासावस्थे बीजभूते अव्याकृते नामरूपे व्याकरवाणीति ईक्षित्वा तासां च तिस्रणां देवतानामेकैकां विवृतं त्रिवृतं करवाणि— एकैक-स्यास्त्रिवृत्करणे एकैकस्याः प्राधान्यं द्वयोर्द्वयोर्गुणभावः;

अन्यथा हि रज्ज्वा इव एकमेव त्रिवृत्करणं स्यात , न तु तिसृणां पृथक्पृथाक्त्रिवृत्करणमिति । एवं हि तेजोबन्नानां पृथक्नामप्रत्ययलाभः स्यात — तेज इद्म इमा आपः
अन्नामिद्म इति च । सित च पृथक्नामप्रत्ययलाभे देवतानां सम्यग्व्यवहारस्य प्रमिद्धिः प्रयोजनं स्यात् । एवमीक्षित्वा सेयं देवता इमास्तिस्रो देवताः अनेनैव यथोक्तेनैव
जीवेन सूर्यविम्बवदन्तः प्रविद्य वैराजं पिण्डं प्रथमं देवादीनां च पिण्डाननुप्रविद्य यथामंकल्पमेव नामक्तपे व्याकरोत् — असौनामा अयम् इदंक्तप इति ॥

तासां त्रिवृतं तिवृतमेकैकामकरोद्य-था तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृ-त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति॥

तासां च देवतानां गुणप्रधानभावेन त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकामकरोत् कृतवती देवता। तिष्ठतु तावद्देवतादिपि-ण्डानां नामरूपाभ्यां व्याकृतानां तेजोबन्नमयत्वेन त्रिधात्वम्, यथा तु बहिरिमाः पिण्डेभ्यस्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मे मम निगदतः विजानीहि विस्पष्टम् अवधारय उदाहरणतः।।

इति तृतीयखण्डभाष्यम्॥

चतुर्थः खण्डः ॥

यद्ग्ने रोहित ५ रूपं तेजसस्तद्र्पं य-च्छुक्कं तद्पां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्ग्ने-रग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १॥

यत्तदेवतानां त्रिवृत्करणमुक्तम् तस्यैवोदाहरणमुच्यते—
उदाहरणं नाम एकदेशप्रसिद्धया अशेषप्रसिद्धयर्थमुदाहियत
इति । तदेतदाह—यदमेः त्रिवृत्कृतस्य रोहितं रूपं प्रसिद्धं
छोके, तत् अत्रिवृत्कृतस्य तेजसा रूपिमिति विद्धि । तथा
यच्छुकं रूपमग्नेरेव तद्पामित्रवृत्कृतानाम्; यत्कृष्णं तस्यैवाग्रेः रूपम् तदन्नस्य पृथिव्याः अत्रिवृत्कृतायाः इति विद्धि ।
तत्रैवं सितं रूपत्रयव्यतिरेकेण अग्निगितं यन्मन्यमे त्वम् ,
तस्याग्नेरित्विमदानीम् अपागान् अपगतम् । प्राप्नपत्रयविवेकविज्ञानात् या अग्निबुद्धिरासीत् ते, सा अग्निबुद्धिरपगता अग्निश्चद्धित्यर्थः— यथा दृश्यमानरक्तोपधानसंयुक्तः
स्फिटको गृह्यमाणः पद्मरागोऽयामितिशब्द्बुद्धयोः प्रयोजको
भवतिष्रागुपधानस्फिटकयोविवेकविज्ञानात् , तिद्वेकविज्ञाने
तु पद्मरागशब्दबुद्धी निवर्तेते तिद्ववेकविज्ञानुः—तद्वत् । ननु

किमत्र बुद्धिशब्दकरुपनया क्रियते, प्रामृपत्रयविवेककरणाद्-ग्निरेवासीत्, तद्ग्नेरिप्तत्वं रोहितादिरूपिवेवककरणाद्पागादि-ति युक्तम्—यथा तन्त्वपकर्षणे पटाभावः। नैवम्, बुद्धिशब्द-मात्रमेव हि अग्निः; यत आह वाचारम्भणमग्निर्नाम विकारो नामधेयं नाममात्रमित्यर्थः। अतः अग्निबुद्धिरिप मृषैव। किं तर्हि तत्र सत्यम् शत्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, नाणु-मात्नमिप रूपत्रयव्यतिरेकेण सत्यमम्तीत्यवधारणार्थः।।

यदादित्यस्य रोहित ५ रूपं तेजसस्तद्र्पं यच्छुक्कं तद्पां यत्कृष्णं तदन्नस्रापागा-दादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२॥

यचन्द्रमसो रोहित ५ रूपं तेजसस्तद्र्पं यच्छुक्कं तद्पां यत्कृष्णं तद्ग्नस्यापागा-चन्द्राचन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नाम-घेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३॥

यि द्युतो रोहित ६ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्कं तद्पां यत्कृष्णं तद्वस्यापागा-द्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं तीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

तथा यदादित्यस्य यचन्द्रमसो यद्विद्युत इत्यादि समा-नम् । ननु 'यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रा देवतास्त्रिवृत्रि-वृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि' इत्युक्त्वा तेजस एव चतुर्भिरष्युदाहरणै: अग्न्यादिभि: त्रिवृत्करणं दर्शितम्, न अबन्नयोक्त्दाहरणं दर्शितं त्रिवृत्करणे । नैष दोष: । अबन्नवि-षयाण्यत्युदाहरणानि एवमेव च द्रष्टव्यानीति मन्यते श्रुतिः। तेजस उदाहरणमुपलक्षणार्थम् , रूपवत्त्वात्स्पष्टार्थत्वोप-पत्तेश्च । गन्धरसयोरनुदाहरणं त्रयाणामसंभवात् । न हि गन्धरसौ तेजासि स्तः । स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं विभागेन दर्शयितुमशक्यत्वान् । यदि सर्वे जगत् त्रिवृत्कृतमिति अग्न्यादिवत् त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् , अग्नेरिमत्ववत् अपागाज्जगतो जगत्त्वम् । तथा अन्नस्याप्यच्युङ्गत्वात् आप इस्रेव सत्यं वाचारम्भणमालमन्नम् । तथा अपामपि तेज:-शुङ्गत्वात् वाचारम्भणत्वं तेज इस्रेव सत्यम् । तेजसोऽपि सच्छुङ्गत्वान् वाचारम्भणत्वं सदित्येव सत्यम् इत्येषोऽथौं विवक्षितः । ननु वाय्वन्तरिक्षे तु अत्रिवृत्कृते तेज:प्रभृति-ष्वनन्तर्भुतत्वात् अवशिष्येते, एवं गन्धरसञ्चदस्पर्शाश्चा-विश्वाह इति कथं सता विज्ञातेन सर्वमन्यद्विज्ञातं विज्ञातं भवेतृ ! तद्विज्ञाने वा प्रकारान्तरं वाच्यम् ; नैष दोष:, क्षपबद्दव्ये सर्वस्य दर्शनात् । कथम १ तेजसि ताबदूप-वित शब्दस्पर्शयोरप्युपलम्भात् वाय्वन्तिरिक्षयोः तत्र म्पर्श-शब्दगुणवतोः सद्भावो अनुमीयते । तथा अवन्नयोः क्षप-वतो रसगन्धान्तर्भाव इति । क्षपवनां त्रयाणां तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणप्रदर्शनेन मर्व तदन्तर्भूतं मद्धिकारत्वान् त्रीण्येव क्षपाणि विज्ञातं मन्यते श्रुतिः । न हि मूर्ते क्षपबद्दव्यं प्र-त्याख्याय वाय्वाकाशयोः तद्गुणयोगेन्धरमयोवां प्रहणमास्त । अथवा क्षपवनामपि त्रिवृत्करणं प्रदर्शनार्थमेव मन्यते श्रुतिः । यथा तु त्रिवृत्कृते बीणि क्षपाणीत्येव मत्यम् , तथा पश्चीक -रणेऽपि समानो न्याय इत्यतः सर्वस्य सद्विकारत्वान् सता विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यान् सद्देकमेवाद्वितीयं सत्य-मिति सिद्धमेव भवति । तदेकस्मिन्सित विज्ञाते सर्विमिदं विज्ञातं भवतीति सूक्तम् ॥

एनद्ध स्म व तिब्रहाश्म आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽच क-श्रनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति होभ्यो विद्वंचकुः ॥ ५॥

एतत् विद्वांसः विदितवन्तः पूर्वे अतिक्रान्ताः महा-शालाः महाश्रोत्रियाः आहुः ह म्म वै किल । किमुक्तवन्त इति, आह्— न नः अस्माकं कुळे अद्य इदानीं यथोक्त-विज्ञानवतां कश्चन कश्चिद्पि अश्चतममतमविज्ञातम् उदाह-रिष्यिति नोदाहरिष्यिति, सर्वे विज्ञातमेव अस्मत्कुळीनानां सद्विज्ञानवत्त्वात् इत्यभिप्रायः । ते पुनः कथं सर्वे विज्ञात-वन्त इति, आह्— एभ्यः त्रिभ्यः रोहितादिरूपेभ्यः त्रिष्टु-त्कृतेभ्यः विज्ञातेभ्यः सर्वमप्यन्यिच्छ्यमेवमेवेति विदांचकुः विज्ञातवन्यः यस्मात्, तस्मात्मर्वज्ञा एव सद्विज्ञानात् ते आसुरित्यर्थः । अथवा एथ्यो विदांचकुरिति अग्न्यादिभ्यो दृष्टान्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्विदांचकुरित्येतत् ॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूप-मिति तद्विदांचकुर्यदु ग्रुक्कमिवाभूदित्य-पा रूपमिति तद्विदांचकुर्यदु कुष्णमि-वाभूदित्यत्रस्य रूपमिति तद्विदांचकुः ॥ ६॥

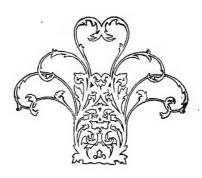
यह विज्ञातिमवाभू दिखेतासामेव देव-ताना एसमास इति ति हिदांच कुर्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानी-इति॥ ७॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

s. u. iv. 11

कथम १ यदन्यदूषेण संदिद्यमाने कपोतादिरूपे रोहितमिव यदृद्यमाणमभूत् तेषां पूर्वेषां ब्रह्मविदाम्, तत्तेजसो
रूपमिति विदांचकुः । तथा यच्छुक्तमिवाभूदृद्यमाणं तद्पां
रूपम्, यत्क्रुष्णमिव गृह्यमाणं तद्ब्रस्थेति विदांचकुः । एवमेवात्यन्तदुर्छक्ष्यं यत् उ अपि अविज्ञातिमव विशेषतो अगृह्यमाणमभूत् तद्येतासामेव तिसृणां देवतानां समासंः समुदाय इति विदांचकुः । एवं तावद्वाह्यं वस्त्वग्न्यादिवद्विज्ञातम्, तथेदानीं यथा तु खलु हे सोम्य इमाः यथोक्तास्तिस्रो
देवताः पुरुषं शिरःपाण्यादिलक्षणं कार्यकारणसंघातं प्राप्य
पुरुषेणोपयुज्यमानाः विवृत्तिवृदेकैका भवति, तत् आध्यातिमकं विजानीहि निगदतः इत्युक्त्वा आह् ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम्॥



पश्चमः खण्डः॥

अन्नमिशतं त्रेघा विधीयते तस्य यः स्थाविष्ठो घातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्य-मस्तन्मा इसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १॥

अन्नम अज्ञितं भुक्तं त्रेधा विधीयते जाठरेणामिना पच्यमानं त्रिधा विभज्यते । कथम्? तस्यान्नस्य त्रिधा विधीयमानस्य यः म्थविष्ठः स्थूलतमो धातुः र्यूलतमं वस्तु विभक्तस्य स्थूलोंशः, तत्पुरीषं भवति; यो मध्यमोंशो धातुरत्रस्य, तद्रसादिक्रमेण परिणम्य मांसं भवति; यः अणिष्ठ: अणुतमो धातु:, स ऊर्ध्व हृद्यं प्राप्य सूक्ष्मासु हिताख्यासु नाडीषु अनुप्रविदय वागादिकरणसंघातस्य स्थितिमुत्पाद्यम् भनो भवति । मनोक्त्पेण विपरिणमन् मनस उपचयं करोति । ततश्च अन्नोपचितत्वात् मनसः भौतिकत्वमेव न वैशेषिकतन्त्रोक्तलक्षणं नित्यं निरवयवं चेति गृह्यते । यदि मनोऽस्य दैवं चक्षुरिति वक्ष्यति तदपि न नित्यत्वापेक्षया; किं तर्हि, सूक्ष्मव्यवहितविप्रक्र-ष्टादिसर्वेन्द्रियविषयज्यापारकत्वापेक्षयाः । यज्ञान्येन्द्रियवि-षयापेक्षया नित्यत्वम् , तद्य्यापेक्षिकमेवेति वक्ष्यामः, 'सत्...एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुते: ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां

यः स्थविष्टो घातुस्तन्म् अं भवति यो मध्यमस्तक्षोहितं योऽणिष्टः स प्राणः ॥

तथा आप: पीताः त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थिविष्ठां धातुः, तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमः, तह्रोहितं भवति; योऽणिष्ठः, स प्राणो भवति । वक्ष्यिति हि- 'आपोमयः प्राणो निपबतो विच्छेत्स्यते ' इति ॥

तंजोऽशितं त्रेषा विधीयते तस्य यः स्थाविष्ठो धातुस्तद्स्थि भवति यो मध्यमः स मज्ञा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३॥

तथा नेजः अञ्चितं तैल्रघृतादि मक्षितं त्रेघा विधीयते । तस्य यः स्थिविष्ठो घातुः तदस्थि भवति; यो मध्यमः, समज्जा अस्थ्यन्तर्गतः स्नेहः; योऽणिष्ठः सा वाक् । तैल्रघृ-तादिभक्षणाद्धि वाग्विशदा भाषणे समर्था भवतीति प्र-सिद्धं लोके ॥

अन्नमय् हि सोम्य मन आपोप्रयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भ्र्य एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

इति पश्चमः खण्डः ॥

यत एवम् , अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् । ननु केवलान्नभक्षिण आखुप्रभृतयो वा-प्राणवन्तश्च, तथा अब्मात्रभक्ष्याः मामुद्रा मी-नमकरप्रभृतयो मनस्विना वाग्मिनश्च, तथा स्नेहपाना-मपि प्राणवत्त्वं मनस्वित्वं च अनुमेयम्; यदि सन्ति, तत्र कथमन्नमयं हि सोम्य मन इत्याद्युच्यते ? नैष दोष:, मर्वस्य त्रिवृत्कृतत्वात्सर्वत्र सर्वोपपत्ते:। न हि अत्रिवृत्कु-तमन्नमश्राति कश्चित्, आपो वा अत्रिवन्कृताः पीयन्ते, तेजो वा अत्रिवृत्कृतमश्राति कश्चित् इत्यन्न।दानामाखुप्र-भृतीनां वाग्मित्वं प्राणवत्तवं च इत्याद्यविरुद्धम् । इत्येवं प्रत्यायितः श्वेतकेतुराह-- भूय एव पुनरेव मा मां भगवान् अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादि विज्ञापयतु दृष्टान्तेनाव-गमयतु, नाद्यापि मम अस्मिन्नर्थे सम्यङ्निश्चया जातः। यस्मात्तेजोबन्नमयत्वेनाविशिष्टे देहे एकस्मिन्नपयुज्यसानान्य-त्राप्स्रोहजातानि अणिष्ठ्यातुरूपेण मनःप्राणवाच उपचि-न्वन्ति स्वजात्यनतिक्रमेणेति दुर्विज्ञेयमित्यभिष्राय:; अतो भूय एवत्याद्याह । तमवमुक्तवन्तं तथाम्तु सोम्येति ह उवाच पिता शृण्वत्र दृष्टान्तं यथैतदुपपद्यते यत्पृच्छसि ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

द्धः सोम्य मध्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सिर्धिर्भवति ॥ १॥

द्ध्नः सोभ्य मध्यमानम्य योऽणिमा अणुभावः स ऊर्ध्वः समुदीषति संभूयोर्ध्वं नवनीतभावेन गच्छति, तत्सर्पिभेवति॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याद्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २॥

यथा अयं दृष्टान्त:, एवमेव खळु सोम्य अन्नस्य ओदनादे: अद्यमानस्य भुज्यमानस्य औदर्येणाग्निना वायुसिहतेन खजे-नेव मध्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषित ; तन्मनो भवति, मनोवयवै: सह संभूय मन उपिचनोतीत्येतत्।।

अपार् सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥ तथा अपां सोम्य पीयमानानां यो अणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, स प्राणो भवतीति ॥

तेजसः सोम्याइयमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

एवमेव खलु सोम्य तेजसीऽदयमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥

अन्नमय हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भ्य एव मा भ-गवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति हो-वाच ॥ ५ ॥

इति षष्टः खण्डः ॥

अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् इति युक्तमेव मयोक्तिमिद्यभिप्रायः। अतः अप्नेजसोर-स्त्वेतत्सर्वमेवम्। मनस्त्वन्नमयमित्यत्र नैकान्तेन मम निश्च-यो जातः। अतः भूय एव मा भगवान् मनसोऽन्नमयत्वं दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति ह उवाच पिता।।

इति षष्ठखण्डभाष्यम्॥

सप्तमः खण्डः॥

षोडदाकलः सोम्य पुरुषः पञ्चद्दााहा-नि माद्यीः कामजपः पिचापोमयः प्राणो निपवतो विच्छेतस्यत इति ॥ १ ॥

अन्नस्य मुक्तस्य ये। अणिष्ठो धातुः, स मनसि शक्तिमधात्। सा अन्नोपिचता मनसः शक्तिः षोडशधा प्रविभन्त्य पुरुषस्य कलात्वेन निर्दिदिक्षिता। तया मनम्यन्नोपिचतया शक्त्या षोडशधा प्रविभक्तया संयुक्तः तद्वान्कार्यकारणसं-घातलक्षणो जीवविशिष्टः पुरुषः षोडशकल उच्यते; यम्यां सत्यां द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञाता सर्विक्रया-समर्थः पुरुषो भवति; हीयमानायां च यस्यां सामर्थ्य-हानिः। वक्ष्यिति च 'अथान्नस्यायी द्रष्टा ' इत्यादि । सर्वम्य कार्यकारणस्य सामर्थ्यं मनःकृतमेव । मानसेन हि बलेन मंपन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके ध्यानाहाराश्च केचित्, अन्नस्य सर्वोत्मकत्वात्। अतः अन्नकृतं मानसं वीर्यम्। षोडश कलाः यस्य पुरुषस्य सोऽयं षोडशक्लः पुरुषः। एतचेत्पत्यक्षीकर्तु-मिच्छसि, पञ्चद्शसंख्याकान्यहानि माशीः अञ्चनं मानकार्षाः, कामम् इच्छातः अपः पिव, यस्मात् निप्वतः अपः ते प्राणो विच्छेत्स्यते विच्छेद्मापत्स्यते, यस्मादापोमयः अव्विकारः प्राण इत्यवोचाम । न हि कार्य स्वकारणोपष्टम्भ-मन्तरेण अविभ्रंशमानं स्थातुमुत्सहते ॥

स ह पश्चद्शाहानि नाशाथ हैनसुप-ससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः लोम्य यजूश्षि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २॥

स ह एवं श्रुत्वा मनसः अन्नमयत्वं प्रत्यक्षीकर्तुभिच्छन् पश्चदशाहानि न आश अग्रनं न कृतवान । अथ षोडशे-ऽहिन ह एनं पितरमुपससाद उपगतवान् । उपगम्य च उवाच—किं न्रवीमि भो इति । इतर आह्—क्रचः सोम्य यर्जूषि सामान्यधीष्वेति । एवमुक्तः पित्रा आह्—न वै मा माम् ऋगादीनि प्रतिभान्ति मम मनसि न दृश्यन्त इत्थर्थः हे भो भगवन्निति ॥

तथ् होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्या हितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः खात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवथ् सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा

स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे

एवमुक्तवन्तं पिता आह— शृणु तत्र कारणम्, येन ते तानि ऋगादीनि न प्रतिभान्तीति; तं ह उवाच— यथा छोके हे सोम्य महतः महत्परिमाणस्य अभ्याहितस्य उपिनतस्य इन्धनैः अग्नेः एकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योतप्रिमाणः आन्तस्य परिशिष्टः अविशिष्टः स्यात् भवेत्, तेनाः ङ्गारेण ततोऽपि तत्परिमाणात् ईषद्पि न बहु दहेत्, एवमेव खळु सोम्य ते तव अन्नोपिचतानां षोडशानां कळानामेका कळा अवयवः अतिशिष्टा अविशिष्टा म्यात्, तया त्वं खद्योतमात्राङ्गारतुल्यया एतिई इदानीं वेदान नानुभविस न प्रतिपद्यसे, श्रुत्वा च मे मम वाचम् अथ अशेषं विज्ञानस्यिस अशान मुङ्क्ष्व तावत्।।

स हाशाथ हैनसुपससाद त ए ह य-तिंकच पप्रच्छ सर्वे ए ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

स ह तथैव आज सुक्तवान्। अथ अनन्तरं ह एनं पितरं शुश्रूषु: उपससाद। तं ह उपगतं पुत्रं यत्किंच ऋगादिषु पप्रच्छ प्रन्थरूपमर्थजातं वा पिता। स श्वेतकेतु: सर्वे ह तस्प्रतिपेदे ऋगाद्यर्थतो प्रन्थतश्च ॥ तथ् होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्या-हितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेसेन ततो ऽपि बहु दहेत्॥ ५॥

तं ह उवाच पुनः पिता—यथा मोम्य महतः अभ्या-हितस्येत्यादि समानम्, एकमङ्गारं शान्तस्याग्नेः खद्योत-मात्रं परिशिष्टं तं तृणैक्चचूर्णैश्च उपसमाधाय प्राज्वलयेत् वर्धयेत् । तेनेद्धेन अङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरिमाणात् बहु दहेत् ॥

एवध् सोम्य ते षोडशानां कलाना-मेका कलातिशिष्टाभूत्मान्नेनोपसमाहि-ता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्न-मयध् हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्ते-जोमयी वागिति तद्धास्त्र विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

एवं सोम्य ते षोडशानामन्नकछानां सामर्थ्यक्तपाणाम्

एका कळा अतिशिष्टा अभूत अतिशिष्टा आसीत्, पञ्चदशाहान्यभुक्तवतः एकैकेनाहा एकैका कळा चन्द्रमस इव
अपरपक्षे श्लीणा, सा अतिशिष्टा कळा तय अले अकेनेमपसमाहिता वर्धिता उपचिता प्राज्वाळी, देव्ये छान्दसम, प्रज्वळिता वर्धिते उपचिता प्राज्वाळीदिति पाठान्तरम, पद्मा तेनोपसमाहिता स्वयं प्रज्विळितवतीत्यर्थः। तया वर्धितया एतिह्रं
इदानीं वेदानगुभविस उपलभसे। एवं व्याप्टरयनुवृत्तिभ्यामन्नमयत्वं सनसः सिद्धमिति उपसंहरित—अन्नमयं हि
सोम्य मन इत्यादि। यथा एतन्मनसोऽन्नमयत्वं तव सिद्धम्,
तथा आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् इत्येतदिप सिद्धमेवेर्त्याभप्रायः। तदेतद्ध अस्य पितुक्कं मनआदीनामन्नादिमयत्वं विजञ्जो विज्ञातवान् श्वेतकेतुः। द्विरभ्यासः त्रिवत्करणप्रकरणप्रमास्यर्थः।।

इति सप्तमखण्डभाष्यम्॥



अष्टमः खण्डः॥

उदालको हारुणिः श्वेनकेतुं पुत्रमु-वाच स्वप्तान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्नैतत्पुरुषः खिपिति नाम सता सोम्य तदा संदन्नो अवाति स्वमपीतो भवति तस्यादेन स्विपितीत्याचक्षते स्वस् ह्यपी-तो स्वाति ॥ १॥

यस्मिन्मनसि जीवेनासनानुप्रविष्टा परा देवता— आदर्शे इव पुरुषः प्रतिबिन्देन जलादिष्विव च सूर्यादयः प्रतिबिन्देः, तन्मनः अन्नमयं तेजोमयाभ्यां वाक्प्राणाभ्यां संगतमधिगतम्। यन्मयो यत्स्यश्च जीवो मननदर्शनश्रवणादिन्यवहाराय कल्पते तदुपरमे च स्वं देवतारूपमेव प्रतिपद्यते । तदुक्तं श्रुद्धन्तरे— 'ध्यायतीव लेलायतीव' 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमितकामिति' 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः' इत्यादि, 'स्वप्नेन लारिएम्' इत्यादि, 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि च । तस्यास्य मनअपस्य मनआख्यां गतस्य मनजप्रामद्वारेणेन्द्रियवि-षयेभ्यो निवृत्तस्य यस्यां परस्यां देवतायां स्वातमभू-

तायां यदवस्थानम्, तत् पुत्राय आचिख्यासुः उदालको ह किल आरुणि: श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच उक्तवान् स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यम् स्वप्न इति दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्या, तस्य मध्यं स्वप्नान्तं सुषुप्रमित्येतत् ; अथवा स्वप्नान्तं स्वप्नसतत्त्व-मित्यर्थः । तत्राप्यर्थात्सुषुप्तमेव भवति, 'स्वमपीतो भवति ' इति वचनात्; न हि अन्यत्र सुषुप्तात् स्वमपीतिं जीवस्य इच्छान्ति ब्रह्माविद:। तत्र हि आदर्शापनयने पुरुषप्रतिबि-म्ब: आदर्शगत: यथा स्वमेव पुरुषमपीतो भवति, एवं मन-आद्युपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बरूपेण जीवेन आसना मनसि प्रविष्टा नामऋपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेव आ-त्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मनआख्यां हित्वा। अतः सुष्प्र एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते । यत्र तु सुप्तः म्वप्रान्पश्यति तत्स्वाप्तं दर्शनं सुखदुःखसंयुक्तमिति पुण्या-पुण्यकार्यम् । पुण्यापुण्ययोर्हि सुखदु:खारम्भकत्वं प्रसिद्धम् । पुण्यापुण्ययोश्चाविद्याकामोपष्टमभेनैव सुखदु:खद्रशनकार्यार-म्भकत्वमुपपद्यते नान्यथेयविद्याकामकर्मभिः संसारहेतुभिः संयुक्त एव स्वप्ने इति न स्वमपीतो भवति । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हद-यस्य भवति ' 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा एष परम आनन्दः '

इत्यादिश्रुतिभ्यः । सुपुप्त एव स्वं देवतारूपं जीवत्वविनिर्मुक्तं द्शीयच्यामीत्याह्— स्वप्नान्तं मे मम निगदतो हे सोम्य विजानीहि विस्पष्टमवधारयेत्यर्थः । कदा स्वप्नान्ता भवतीति, उच्यते— यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम भवति पुरुषस्य स्वप्स्यत: । प्रसिद्धं हि छोके स्विपतीति । गौणं चेदं नामेत्याह- यदा स्विपतीत्युच्यते पुरुष:, तदा तस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्यया प्रकृतया देवतया संपन्नो भवति संगतः एकीभूतो भवति । मनसि प्रविष्टं मनआदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यम् अपीतः अपिगतः भवति । अतः तस्मात् स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिका: । स्वमात्मानं हि यस्माद्पीतो भवति; गुणना-मप्रसिद्धितोऽपि स्वात्मप्राप्तिर्गम्यते इत्यभिप्राय: । कथं पुन-र्छौिककानां प्रसिद्धा स्वात्मसंपत्तिः ? जायच्छुमनिमित्तोद्भव-त्वात्स्वापस्य इत्याहु: - जागरिते हि पुण्यापुण्यनिमित्तसुख-दु:खाद्यनेकायासानुभवाच्छ्रान्ना भवति ; ततश्च आयस्तानां करणानामनेकव्यापारानिमित्तरलानानां स्वव्यापारेभ्य उप-रमो भवति । श्रुतेश्च 'श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः' इत्ये-वमादि । तथा च 'गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ' इत्येवमादीनि करणानि प्राणप्रस्तानि ; प्राण एक:

अश्रान्तः देहे कुळाये यो जागर्ति, तदा जीवः श्रमापनुत्तये स्वं देवताक्त्यमात्मानं प्रतिपद्यते । नान्यत्र स्वरूपावस्थाना-च्छ्रमापनोदः स्थादिति युक्ता प्रसिद्धिळीकिकानाम्— स्वं द्यपीतो भवतीति । दृश्यते हि छोके ज्वरादिरोगप्रस्तानां तद्विनिर्मोके स्वात्मस्थानां विश्रमणम्, तद्वदिहापि स्यादिति युक्तम् । 'तद्यथा श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः' इत्यादिश्रुतेश्च ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धन-मेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन १ हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

तत्रायं दृष्टान्तः यथोक्तेऽर्थे— स यथा शकुनिः पक्षी शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रबद्धः पाशितः दिशं दिशं बन्धनमोक्षार्थी सन् प्रतिदिशं पतित्वा अन्यत्र ब-न्धनात् आयतनम् आश्रयं विश्रमणाय अलब्ध्वा अप्राप्य बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेव यथा अयं दृष्टान्तः खेळु हे सोम्य तन्मनः तत्प्रकृतं षोडशकलमन्नोपचितं मनो निर्धारितम्, तत्प्रविष्टः तत्थः तदुपलिभितो जीवः तन्मन इति
निर्दिश्यते—मञ्चाकोशनवत् । म मनआख्योपाधिः जीवः
अविद्याकामकर्मोपदिष्टां दिशं दिशं सुखदुःखादिलक्षणां
जाग्रत्स्वप्रयोः पतित्वा गत्वा अनुभूयेलर्थः, अन्यत्र सदाख्यात् स्वात्मनः आयतनं विश्रमणस्थानमल्ब्या प्राणमेव,
प्राणेन सर्वकार्यकरणाश्रयेणोपलिभिता प्राण इत्युच्यते सदाख्या परा देवता, 'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणशरीरो भारूपः'
इलादिश्रुतः । अतः तां देवतां प्राणं प्राणाख्यामेव उपश्रयते । प्राणो बन्धनं यस्य मनसः तत्प्राणबन्धनं हि
यस्मात् सोम्य मनः प्राणोपलिभितदेवताश्रयम्, मन इति
तदुपलिभितो जीव इति ॥

अज्ञानापिपासे में सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव त-द्शितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तद्प आचक्षतेऽज्ञानाये-ति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित् सोम्य विजानीहि नेद्ममूलं भविष्यतीति॥३॥

s. u. iv. 12

एवं स्विपितिनामप्रसिद्धिद्वारेण यज्जीवस्य सत्यस्वरूपं जगतो मूळम्, तत्पुत्रस्य दर्शयित्वा आह अन्नादिकार्यका-रणप्रस्परयापि जगतो मूलं सिद्दर्शयिषु:- अशनापिपास अशितुमिच्छा अञ्चना, सन यलोपेन, पातुमिच्छा पिपासा ते अज्ञनापिपासे अज्ञनापिपासयोः सतत्त्वं विजानीहीत्येतत्। यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम पुरुषो भवति । किं तत ? अशिशि-षति अशितुमिच्छतीति । तदा तस्य पुरुषस्य किनिमित्तं नाम भवतीति, आह- यत्तत्पुरुषेण अज्ञितमन्नं कठिनं पीता आपो नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणमयन्ते, तदा भुक्तमन्नं जीर्यति । अथ च भवत्यस्य नाम अशिशिष-तीति गौणम् । जीर्णे हि अन्ने अशितुमिच्छति सर्वो हि जन्तु:। तत्र अपामशितनेतृत्वात् अश्वनाया इति नाम प्रसिद्धमि-त्येतस्मित्रर्थे । यथा गोनाय: गां नयतीति गोनाय: इत्यु-च्यते गोपालः, तथा अश्वान्नयतीत्यश्वनायः अश्वपाल इत्यु-च्यते, पुरुषनाय: पुरुषान्नयतीति राजा सेनापतिर्वा, एवं तत् तदा अप आचक्षते छौिकका: अज्ञनायेति विसर्जनीय-छोपेन । तत्रैवं सति अद्भिः रसादिभावेन नीतेन अशितेना-न्नेन निष्पादितमिदं शरीरं वटकणिकायामिव शुङ्ग: अङ्कर उत्पतित: उद्गत: ; तिममं शुङ्गं कार्यं शरीराख्यं वटादिशुङ्ग-

वदुत्पतितं हे सोम्य विजानीहि। किं तत्र विज्ञेयमिति, उच्यते— शृणु इदं शुङ्गवत्कार्यत्वात् शरीरं नामूलं मूल-रहितं भविष्यति इत्युक्तः आह श्वेतकेतुः ॥

तस्य क मूल ए खादन्यत्राञ्चादेवमेव खलु सोम्याञ्चेन शुक्नेनापो मूलमन्वि-च्छाद्भिः सोम्य शुक्नेन तेजो मूलमन्वि-च्छ तेजमा सोम्य शुक्नेन सन्मूलमन्वि-च्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

यद्येवं समूलिमदं शरीरं वटादिशुङ्गवत, तस्य अस्य शरीरस्य क मूलं स्यात् भवेत् इत्येवं पृष्टः आह पिता— तस्य क मूलं स्यात् अन्यलान्नादन्नं मूलिमत्यभिप्रायः। कथम् अशितं हि अन्नमिद्धिदेवीकृतं जाठरेणाग्निना पच्य-मानं रसभावेन परिणमते। रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मासान्मेदो मेदसोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जायाः शुक्रम्। तथा योषिद्धुक्तं च अन्नं रसादिक्रमेणैवं परिणतं लोहितं भवति। ताभ्यां शुक्रशोणिताभ्यामन्नकार्याभ्यां संयुक्ताभ्या-मन्नेन एवं प्रत्यहं मुज्यमानेन आपूर्यमाणाभ्यां कुड्यमिव मृत्पिण्डै: प्रत्यहमुपचीयमान: अन्नमूळ: देहगुङ्ग: परिनि-ष्पन्न इत्यर्थ: । यत्तु देहगुङ्गस्य मूलमन्नं निर्दिष्टम् , तदपि देहवद्विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् कस्माचिन्मूलादुत्पतितं शुङ्ग ए-वेति कृत्वा आह—यथा देहशुङ्गः अन्नमूरुः एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुङ्गेन कार्यभूतेन अपो मूलमन्नस्य शुङ्गस्या-न्विच्छ प्रतिपद्यस्य । अपामपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् शुङ्ग-त्वमेवेति अद्भिः सोम्य शुङ्गेन कार्येण कारणं तेजो मूळमन्वि-च्छ । तेजसोऽपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् शुङ्गत्विमिति तेजसा सोम्य शुक्केन सन्मूलम् एकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम्। यस्मि-न्सर्वमिदं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वामिव सर्पादिविकस्पजातमध्यम्तमविद्यया, तदस्य जगतो मूलम्; अत: सन्मूला: सत्कारणाः हे सोम्य इमा: स्थावरजङ्गमल-क्षणाः सर्वाः प्रजाः । न केवळं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव । न हि मृदमना-श्रित्य घटादे: सत्त्वं स्थितिर्वा अस्ति । अत: मृद्वत्सन्मृल-त्वात्प्रजानां सन् आयतनं यासां ताः मदायतनाः प्रजाः । अन्ते च मत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिः अवसानं परिशेष: यासां ता: सत्प्रतिष्ठा: ॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम .

तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायो-ऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आच-ष्ट उद्न्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितः सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्य-तीति ॥ ५ ॥

अथ इदानीमण्डाङ्गद्वारेण सतो मूलस्यानुगमः कार्य इत्याह— यत्र यिसमन्काले एतन्नाम पिपासित पातुमिच्छ-तीति पुरुषो भवति । अशिशिषतीतिवत् इदमपि गौणमेव नाम भवति । द्रवीकृतस्याशितस्यात्रस्य नेत्र्यः आपः अन्न-शुङ्गं देहं कृदयन्त्यः शिथिलीकुर्युः अञ्बाहुल्यात् यिद तेजसा न शोष्यन्ते । नितरां च तेजसा शोष्यमाणास्वप्सु देहभावेन परिणममानासु पातुमिच्छा पुरुषस्य जायते; तदा पुरुषः पिपासित नामः तदेतदाह— तेज एव तत् तदा पीतमबादि शोषयत् देहगतलोहितप्राणभावेन नयते परिणमयति । तद्यथा गोनाय इत्यादि समानम्; एवं तत्तेज आचष्टे लोकः— उदन्येति उदकं नयतीत्युदन्यम् , उदन्येति च्छान्दसं तत्वापि पूर्ववत् । अपामिष एतदेव शरीराख्यं शुङ्गं नान्यदित्येवमादि समानमन्यत् ॥ तस्य क मूल श्रादन्यताद्योऽद्विः सोम्य शुक्तेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुक्तेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सन्द्रितिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवित तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजिस तेजः परस्यां देवता-याम्॥ ६॥

सामर्थ्यात् तेजसोऽप्येतदेव शरीराख्यं शुक्कम् । अतः अध्युक्केन देहेन आपो मृळं गम्यते । अद्भिः शुक्केन तेजो मूळं गम्यते । तेजसा शुक्केन सन्मृळं गम्यते पूर्ववत् । एवं हि तेजोबन्नमयस्य देहशुक्कस्य वाचारम्भणमात्रस्य अन्नादिपरम्परया परमार्थसत्यं सन्मृळमभयमसंवासं निरान्यासं सम्मृळमन्विच्छेति पुत्रं गमयित्वा अशिशिषति पिपान्सतीति नामप्रसिद्धिद्वारेण यदन्यत् इह अस्मिन्प्रकरणे तेजोन्वनानां पुरुषेणोपयुज्यमानानां कार्यकरणसंघातस्य देहशुन्

क्स्य खजात्यसांकर्येणोपचयकरत्वं वक्तव्यं प्राप्तम्, तदिहो-क्तमेव द्रष्ट्रव्यमिति पूर्वोक्तं व्यपदिशति—यथा तु खलु येन प्रकारेण इमाः तेजोबन्नाख्याः तिस्तः देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृद्केका भवति, तदुक्तं पुरस्तादेव भवति 'अन्नम-शितं त्रेघा विधीयते 'इत्यादि तत्रैवोक्तम्। अन्नादीनामशि-तानां ये मध्यमा धातवः, ते साप्तधातुकं शरीरमुपचिन्वन्ती-त्युक्तम्— मांसं भवति लोहितं भवति मज्जा भवति अस्थि भवतीति। ये त्वणिष्ठा धातवः मनः प्राणं वाचं देहस्यान्तःकर-णसंघातमुपचिन्वन्तीति च उक्तम् —तन्मनो भवति स प्राणो भवति स वाग्भवतीति । सोऽयं प्राणकरणसंघातः देहे वि-शीणें देहान्तरं जीवाधिष्ठितः येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रच्युतः गच्छति, तदाह-अस्य हे सोम्य पुरुषस्य प्रयतः स्रियमां-णस्य वाक् मनसि संपद्यते मनस्युपसंद्वियते । अथ तदाहुः ज्ञातयो न वदतीति । मनःपूर्वको हि वाग्व्यापारः, 'यद्दै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति 'इति श्रुते: । वाच्युपसंह-तायां मनसि मननव्यापारेण केवलेन वर्तते । मनोऽपि यदा उपसंह्रियते, तदा मनः प्राणे संपन्नं भवति—सुषुप्तकाले इव; तदा पार्श्वस्था ज्ञातयः न विजानातीत्याहुः। प्राणश्च तदोध्वीं-च्छासी स्वात्मन्युपसंहतबाह्यकरणः संवर्गविद्यायां दर्शनात्

इस्तपादादीन्विश्लिपन् मर्भस्थानानि निकृन्तित्र उत्सृजन क्रमेणोपसंहतः तेजिस संपद्यते ; तदाहुः ज्ञातयो न चलतीति। मृतः नेति वा विचिकित्सन्तः देहमालभमानाः उष्णं च उप-लभमानाः देहः उष्णः जीवतीति यदा तद्प्यौष्ण्यलिङ्गं तेज उपसंद्वियते, तदा तत्तेजः परस्यां देवतायां प्रशाम्यति। तदैवं क्रमेणोपसंहते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि तत्स्थो जीवो-ऽपि सुषुप्तकालवत् निमित्तोपसंहारादुपसंहियमाणः सन् सत्याभिसंधिपूर्वकं चेदुपसंहियते सदेव संपद्यते न पुन-देहान्तराय सुषुप्तादिवोत्तिष्ठति, यथा लोके सभये देशे वर्त-मानः कथंचिदिवाभयं देशं प्राप्तः— तद्वत्। इतरस्तु अना-तम्जः तस्मादेव मूलात् सुषुप्तादिवोत्थाय मृत्वा पुनर्देहजा-लमाविश्वति यस्मान्मूलादुत्थाय देहमाविश्वति जीवः।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्वे तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भ्य एव मा भगवान्विज्ञापयत्वि-ति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

स यः सदाख्यः एषः उक्तः अणिमा अणुभावः जगतो

मूलम् ऐतदात्म्यम् एतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तत् एतदात्म तस्य भावः ऐतदात्म्यम् । एतेन सदाख्येन आत्मना आत्म-वत् सर्वमिदं जगत् । नान्योऽस्त्यस्यात्मासंसारी, 'नान्यदतो-ऽस्ति द्रष्ट्र नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ ' इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । येन च आत्मना आत्मवत्सर्वमिदं जगत्, तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत् । अतः स एव आत्मा जगतः प्रत्य-क्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्, आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मिनि गवादिशब्दवत् निरुद्धत्वात् । अतः तत् सत् त्वमसीति हे श्वेतकेतो इत्येवं प्रत्यायितः पुत्रः आह—भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु, यद्भवदुक्तं तत् संदिग्धं मम-अहन्यहिन सर्वाः प्रजाः सुषुमौ सत् संपद्यन्ते इत्येतत्, येन सत् संपद्य न विदुः सत्संपन्ना वयमिति । अतः दृष्टान्तेन मां प्रत्याययित्वत्यर्थः । एवमुक्तः तथा अस्तु सोम्य इति ह जवाच पिता ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम्॥



नवमः खण्डः॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठ-नित नानात्ययानां वृक्षाणा १ रसान्समव-हारमेकता १ रसं गमयान्ति ॥ १ ॥

यत्पृच्छिसि—अहन्यहिन सत्संपद्य न विदुः सत्संपन्नाः स्म इति, तत्कस्मादिति—अत्र शृणु दृष्टान्तम—यथा लोके हे सोम्य मधुकृतः मधु कुर्वन्तीति मधुकृतः मधुकरमिक्षकाः मधु निस्तिष्ठन्ति मधु तिष्पाद्यन्ति तत्पराः सन्तः । कथम् १ नानात्ययानां नानागतीनां नानादिकानां वृक्षाणां रसान् समबहारं समाहृत्य एकताम् एकभावं मधुत्वेन रसान् गम-यन्ति मधुत्वमापाद्यन्ति ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽसुष्या-हं वृक्षस्य रसोऽस्म्यसुष्याहं वृक्षस्य रसो-ऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ १ ॥

ते रसाः यथा मधुत्वेनैकतां गताः तत्र मधुनि विवेकं

न लभन्ते; कथम्? अमुख्याहमाम्रस्य पनसस्य वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति— यथा हि लोके बहूनां चेतनावतां, समेतानां प्राणिनां विवेकलाभो भवति अमुख्याहं पुत्रः अ-मुख्याहं नप्तास्मीति; ते च लब्धविवेकाः सन्तः न संकीर्यन्ते; न तथा इह अनेकप्रकारवृक्षरसानामि मधुराम्लतिक्कदुः कादीनां मधुत्वेन एकतां गतानां मधुरादिभावेन विवेको गृह्यत इत्यभिप्रायः। यथा अयं दृष्टान्तः, इत्येवमेव खलु सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः अहन्यहिन सित संपद्य सुपु-पिकाले मरणप्रलययोध्य न विदुः न विजानीयुः— सित संप-द्यामहे इति संपन्ना इति वा।।

त इह व्याघो वा सिक्हो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दक्ष-शो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा-भवन्ति ॥ ३॥

यस्माच एवमात्मनः सद्भूपतामज्ञात्वैव सत्संपद्यन्ते, अतः ते इह छोके यत्कर्मनिमित्तां यां यां जातिं प्रतिपन्ना आसुः व्याद्यादीनाम—व्याद्योऽइं सिंहोहऽमित्येवम्, ते तत्कर्मज्ञानवासनाङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा अपि तद्भावेनैव पुनराभवन्ति पुनः सत आगत्य व्याद्यो वा सिंहो वा वृको वा वराहो

वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यत्पूर्वमिह होके भवन्ति वभूवुरित्यर्थः, तदेव पुनरागत्य भवन्ति । युगसहस्रकोट्यन्तरितापि संसारिणः जन्तोः या पुरा भाविता वासना, सा न नश्यतीत्यर्थः । 'यथाप्रज्ञं हि संभवाः' इति श्रुत्यन्तरात् ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्वे तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भ्रूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्वि-ति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४॥

इति नवमः खण्डः ॥

ताः प्रजाः यस्मिन्प्रविश्य पुनराविभविन्त, ये तु इतो-ऽन्ये सत्सत्यात्माभिसंघाः यमणुभावं सदात्मानं प्रविश्य नावर्तन्ते, स य एषोऽणिमेत्यादि व्याख्यातम् । यथा लोके स्वकीये गृहे सुप्तः उत्थाय प्रामान्तरं गतः जानाति स्वगृ-हादागतोऽस्मीति, एवं सत आगतोऽस्मीति च जन्तूनां क-स्माद्विज्ञानं न भवतीति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु इत्युक्तः तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति नवमखण्डभाष्यम्॥

दशमः खण्डः॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्य-न्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमे-वापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विद्रियमहमस्मीयमहमस्मीति॥

शृणु तल दृष्टान्तम्—यथा सोम्य इमा नद्यः गङ्गाद्याः पुरस्तात् पूर्वी दिशं प्रति प्राच्यः प्रागञ्चनाः स्यन्दन्ते स्रवन्ति । पश्चात् प्रतीचीं दिशं प्रति सिन्ध्वाद्याः प्रतीचीम् अञ्चन्ति गच्छन्तीति प्रतीच्यः, ताः समुद्रादम्भोनिधेः जलधरैराक्षिप्ताः पुनर्वृष्टिरूपेण पतिताः गङ्गादिनदीरूपिण्यः पुनः समुद्रम् अम्भोनिधिमेव अपियन्ति स समुद्रं एव भवति । ता नद्यः यथा तल्ल समुद्रं समुद्रात्मना एकतां गताः न विदुः न जानन्ति— इयं गङ्गा अहमस्मि इयं यमुना अहमस्मीति च ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छमाह इति त इह व्याघो वा सि॰्हो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा द॰ शो वा मशको वा यद्यद्ववन्ति तदाभवन्ति ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्वे तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

इति दशमः खण्डः ॥

एवमेव खलु सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः यस्मात् सित संपद्य न विदुः, तम्मात्सत आगम्य न विदुः—सत आग-च्छामहे आगता इति वा । त इह व्याघ्र इत्यादि समान-मन्यत् । दृष्टं छोके जले वीचीतरङ्गफेनबुद्भुदादय उत्थिताः पुनस्तद्भावं गता विनष्टा इति । जीवास्तु तत्कारणभावं प्रत्यहं गच्छन्तोऽपि सुषुप्ते मरणप्रलययोश्च न विन्य्यन्ती-त्येतत्, भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु दृष्टान्तेन । तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति द्शमखण्डभाष्यम्॥

एकादशः खण्डः॥

अस्य सोम्य महतो बृक्षस्य यो मूले-ऽभ्याहन्याज्ञीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्या-ज्ञीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्ञीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मो-दमानस्तिष्ठति ॥ १॥

शृणु दृष्टान्तम्-अस्य हे सोम्य महतः अनेकशास्त्रादियुकस्य वृक्षम्य, अस्येत्ययतः स्थितं वृक्षं दर्शयम् आह—यदि
यः कश्चित् अस्य मूले अभ्याहन्यात्, परश्चादिना सकुद्धातमात्रेण न शुष्यतीति जीवन्नेव भवति, तदा तस्य रसः स्रवेत्। तथा यो मध्ये अभ्याहन्यात् जीवन्स्रवेत्, तथा योऽप्रे
अभ्याहन्यात् जीवन्स्रवेत्। स एष वृक्षः इदानीं जीवेन
आत्मना अनुप्रभूतः अनुव्याप्तः पेपीयमानः अत्यर्थं पिवन्
उदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानः हर्षे प्राप्नुवन्
तिष्ठति।।

अस्य यदेका शालां जीवो जहात्यथ सा शुष्यित बितीयां जहात्यथ सा शुष्यित ष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यित

सर्वे जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥

तस्यास्य यदेकां शाखां रोगप्रस्ताम् आहतां वा जीवः जहाति उपसंहरति शाखायां विश्रसृतमात्मांशम् , अथ सा शुष्यति । वाङ्मन:प्राणकरणत्रामानुप्रविष्टो हि जीव इति तदुपसंहारे उपसंह्रियते । जीवेन च प्राणयुक्तेन अशितं पीतं च रसतां गतं जीवच्छरीरं वृक्षं च वर्धयत् रसक्रपेण जीवस्य सद्भावे लिङ्गं भवति । अशितपीताभ्यां हि देहे जीवस्तिष्ठति । ते च अशितपीते जीवकमीत्रसारिणी इति तस्यैकाङ्गवैकल्यनिमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति, तदा जीव: एकां शाखां जहाति शाखाया आत्मानमुपसंहरति; अथ तदा सा शाखा शुष्यति । जीवस्थितिनिमित्तो रसः जीवकमीक्षिप्त: जीवोपसंहारे न तिष्ठति । रसापगमे च शाखा शोषमुपैति । तथा सर्वे वृक्ष्मेव यदा अयं जहाति तदा सर्वोऽपि वृक्षः शुष्यति । वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादि-लिङ्गात् जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्त: स्थावरा इति बौद्धकाणादमतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति ॥

एवमेव खलु सोम्य विद्वीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमि-द ५ सर्वे तत्सत्य ५ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भ्रूय एव मा भगवान्वि-ज्ञापयत्विति तथा मोम्येति होवाच ॥

इति एकाद्शः खण्डः ॥

यथा अस्मिन्द्रश्रदृष्टान्ते द्शितम्— जीवेन युक्तः वृक्षः अशुप्तः रसपानादियुक्तः जीवतीत्युच्यते, तद्पेतश्च म्नियत इत्युच्यते; एवमेव खलु सोम्य विद्धीति ह उवाच— जीवापेतं जीविवयुक्तं वाव किल इदं शरीरं म्नियते न जीवो म्नियत इति। कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य मम इदं कार्यशेषम् अपरिस्माप्तमिति स्मृत्वा समापनदर्शनात्। जातमात्राणां च जन्त्नां स्तन्याभिलाषभयादिदर्शनाच अतीतजन्मान्तरानुभूतस्तन्यपानदुःखानुभवस्मृतिर्गम्यते । अग्निहात्रादीनां च वैदिकानां कर्मणामर्थवत्त्वात् न जीवो म्नियत इति । स य एषोऽणिमेत्यादि समानम् । कथं पुनरिष्मत्यन्तत्त्रः पृथिव्यादि नामस्त्रवज्ञगत् अत्यन्तस्कृत्मात्मद्रूपान्नामरूपरहितात्सतो जायते, इति एतदृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु इति । तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति एकाद्शखण्डभाष्यम् ॥ s. u. iv. 13

द्वाद्शः खण्डः॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिनद्धीति भिन्नं भगव इति किमन्न प-इयसील्यण्ड्य इवेमा धाना भगव इत्या-सामङ्गेकां भिनद्धीति भिन्ना भगव इति किमन्न पद्यसीति न किंचन भगव इति ॥

यदि एतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छिस अतोऽस्मान्महतः न्यग्रो-धात् फळमेकमाहर—इत्युक्तः तथा चकार मः; इदं भगव उपहृतं फळिमिति दर्शितवन्तं प्रति आह्— फळं भिन्द्धीति । भिन्नभित्याह इतरः । तमाह पिता— किमन्न प्रश्यसीति; उक्तः आह्— अण्व्यः अणुतरा इव इमाः धानाः बीजानि पश्यामि भगव इति । आमां धानानामेकां धानाम् अङ्ग हे वत्स भिन्द्धि, इत्युक्तः आह्— भिन्ना भगव इति । यदि भिन्ना धाना तस्यां भिन्नायां किं पश्यिस, इत्युक्तः आह— न किंचन पश्यामि भगव इति ॥

त १ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सो-म्योति॥ २॥ तं पुत्रं ह उवाच — वटधानायां भिन्नायां यं वटबीजाणिमानं हे साम्य एतं न निभालयसे न पश्यिस, तथा अप्येतस्य वै किल सोम्य एष महान्यग्रोधः बीजस्य अणिन्नः
सूक्ष्मम्य अदृश्यमानस्य कार्यभूतः म्थूलशाखास्कन्धफलपलाशवान् तिष्ठति उत्पन्नः सन्, उत्तिष्ठतीति वा, उच्छब्दोऽध्याहार्यः। अतः श्रद्धत्स्य मोम्य सत एव अणिन्नः स्थूलं
नामक्षपिद्मत्कार्यं जगदुत्पन्नमिति। यद्यपि न्यायागमाभ्यां
निर्धारितोऽर्थः तथैवेत्यवगम्यते, तथापि अत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु
बाह्यविषयासक्तमनसः स्वभावश्रवृत्तस्यासत्यां गुरुतरायां
श्रद्धायां दुरवगमत्वं स्यादित्याह् — श्रद्धत्स्वेति। श्रद्धायां तु
सत्यां मनसः समाधानं बुभुत्सितेऽर्थे भवेन्, ततश्च तदर्थावगितः, 'अन्यत्रमना अभूवम्,' इत्यादिश्रुतः॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यामिद् सर्वे तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमासि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयात्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । यदि तत्सज्जगतो मृत्यम् , कस्मा-न्नोपलभ्यत इत्येतहृष्टान्तेन मा भगवान्भूय एव विज्ञापय-त्विति । तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥ इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुद्केऽवधायाथ मा प्रातरूप-मीद्था इति म ह तथा चकार त इते-वाच यहोषा लवणमुद्केऽवाधा अङ्ग त-दाहरेति तद्धावमृद्य न विवेद ॥ १॥

विद्यमानमाप वस्तु नोपलभ्यते, प्रकारान्तरेण तु उपलभ्यत इति श्रृणु अत्र दृष्टान्तम्— यदि च इममर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छिमि, पिण्डरूपं लवणम् एतद्घटादौ उदके अवधाय प्रक्षिप्य अथ मा मां श्व: प्रातः उपमीद्थाः उपगच्छेथाः
इति । स ह पित्रोक्तमर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन् तथा चकार ।
तं ह उवाच परेद्युः प्रातः - यछवणं दोषा रात्रौ उदके अवाधाः निक्षिप्तवानीम अङ्ग हे वत्म तदाहर — इत्युक्तः तछवणमाजिहीर्षुः ह किल अवमृद्य उदके न विवेद न विज्ञातवान् । यथा तछवणं विद्यमानमेव सत् अप्सु लीनं संश्रिष्टमभून् ।।

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति क-थमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमि- ति लवणमित्यभिप्रास्यैतद्थ मोपसीद्था इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्मंवर्तते तथ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २॥

यथा विलीनं लवणं न वेत्थ, तथापि तश्चक्षुषा स्पर्शनेन च पिण्डरूपं लवणमगृह्यमाणं विद्यत एव अप्सु, उपलभ्यते च उपायान्तरेण- इत्येतत् पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छन् आह-अङ्ग अस्योदकस्य अन्तात् उपरि गृहीत्वा आचाम–इत्युक्त्वा पुत्रं तथाकृतवन्तमुवाच–कथामिति ; इतर आह् — लवणं स्वा-दुत इति । तथा मध्यादुद्कस्य गृहीत्वा आचाम इति, कथ-मिति, छवणमिति । तथान्तात् अधोदेशात् गृहीत्वा आ-चाम इति, कथमिति, छवणमिति। यद्येवम् , अभिप्रास्य परि-त्यज्य एतदुद्कम् आचम्य अथ मोपसीद्थाः इति ; तद्ध तथा चकार छवणं परित्यज्य पितृसमीपमाजगामेत्यर्थः इदं वचनं ब्रुवन-तह्नवणं तस्मिन्नेवोद्के यन्मया रात्नौ क्षिप्तं शश्वनित्यं संवर्तते विद्यमानमेव सत् सम्यग्वर्तते । इति एवमुक्तवन्तं तं ह उवाच पिता— यथेदं छवणं दर्शनस्पर्शनाभ्यां पूर्व गृहीतं पुनरुद्के विलीनं ताभ्यामगृद्यमाणमपि विद्यत एव उपायान्तरेण जिह्वयोपळभ्यमानत्वात्— एवमेव अत्रैव अभिमन्नेव तेजोबन्नादिकार्ये शुक्के देहे, वाव किलेखाचा-यापदेशस्मरणप्रदर्शनार्थी, सत् तेजोबन्नादिशुक्ककारणं वट-बिजाणिमवद्विद्यमानमेव इन्द्रियैनीपलभसे न निभाल-यसे। यथा अत्रैवोदके दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानं ल-वणं विद्यमानमेव जिह्नया उपलब्धवानसि— एवमेवात्रैव किल विद्यमानं सत् जगन्मूलम् उपायान्तरेण लवणाणिमवत् उपलप्स्यस इति बाक्यशेषः॥

स य एषाऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्घं तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ६॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स य इत्यादि समानम् । यद्येवं छवणाणिमवदिन्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि जगन्मूछं सत् उपायान्तरेण उपछब्धुं
शक्यते, यदुपलम्भात्कृतार्थः स्याम् अनुपलम्भाचाकृतार्थः
स्यामहम्, तस्यैवोपलब्धौ क उपायः इत्येतत् भूय एव मा
भगवान विज्ञापयतु दृष्टान्तेन। तथा सोम्य इति ह उवाच ॥

्रदति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिन-द्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विस्रजेत्स यथा तन्न प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रस्रङ्-वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिन-द्धाक्षो विस्रष्टः ॥ १॥

यथा छोके हे सोम्य पुरुषं यं कंचित् गन्धारेभ्यो जनपदेभ्यः अभिनद्धाक्षं बद्धचक्षुषम् आनीय द्रव्यहर्ता तस्करः तमभिनद्धाक्षमेव बद्धहस्तम् अरण्ये ततोऽप्यति-जने अतिगतजने अत्यन्तविगतजने देशे विस्चजेत्, स तब दिग्भ्रमोपेतः यथा प्राङ्घा प्रागञ्चनः प्राच्चुखो वेत्यर्थः, तथोदङ्घा अधराङ्घा प्रत्यङ्घा प्रध्मायीत शब्दं कुर्यात् विकोकोन—अभिनद्धाक्षोऽहं गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽभिनद्धाक्ष एव विस्तृष्ट इति ॥

तस्य यथाभिनह्नं प्रमुच्य प्रस्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं ब्रजेति स ग्रा-माद्धामं एच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारा-नेवापसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥ २ ॥

एवं विक्रोशत: तस्य यथाभिनहनं यथा बन्धनं प्रमुच्य मुक्त्वा कारुणिक: कश्चित् एतां दिशमुत्तरत: गन्धारा: एतां दिशं त्रज-इति प्रब्रूयात्। स एवं कारुणिकेन बन्ध-नान्मोक्षितः प्रामात् प्रामान्तरं पुच्छन पण्डितः उपदेशु-वान मेधावी परोपदिष्ट्रप्रामप्रवेशमार्गावधारणसमर्थः मन गन्धारानेवोपमंपद्येत। नेतरो मूढमति: देशान्तरदर्शनतृड्या। यथा अयं दृष्टान्त: वर्णित: — स्वविषयेभ्यो गन्धारेभ्य: पुरुष: तस्करैरभिनद्धाक्षः अविवेकः दिङ्मूढः अज्ञनायापिपासा-दिमान व्याघतस्कराद्यनेकभयानर्थवातयुतमरण्यं प्रवेशितः दु:खार्त: विक्रोशन् बन्धनेभ्यो मुमुक्षुस्तिष्ठति, स कथंचि-देव कारुणिकेन केनचिन्मोक्षितः स्वदेशान्गन्धारानेवापन्नः निर्वृत: सुख्यभूत् — एवमेव सत: जगदात्मस्वरूपात्तेजोब-न्नादिमयं देहारण्यं वातिपत्तकफरुधिरमेदोमांसास्थिमज्जाशु-क्रकृमिमूत्रपुरीषवत् शीतोष्णाद्यनेकद्वनद्वदु:खवच इदं मोह-पटाभिनद्धाक्षः भार्यापुत्रमित्रपशुबन्ध्वादिदृष्टादृष्टानेकविषय-तृष्णापाशितः पुण्यापुण्यादितस्करैः प्रवेशितः अहममुख्य पुत्रः, ममैते बान्धवाः, सुख्यहं दुःखी मृढः पण्डितो धार्मिको बन्धुमान् जातः मृतो जीर्णः पापी, पुत्रो मे मृतः, धनं मे नष्टम्, हा हतोऽस्मि, कथं जीविष्यामि, का मे गति:, किं

मे त्राणम-इस्रेवमनेकशतसहस्रानर्थजालवान् विक्रोशन् कथं-चिदेव पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं कंचित्सद्वह्यात्मविदं वि-मुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदा आसाद्यति, तेन च ब्रह्मविदा कारुण्यात दर्शितसंसारविषयदोषदर्शनमार्गः विरक्तः संसा-रविषयेभ्यः — नासि त्वं संसारी अमुष्य पुत्रत्वादिधर्मवान , किं तर्हि. मन् यत्तत्त्वमसि-इत्यविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षि-तः गन्धारपुरुषवच स्वं सदात्मानम् उपसंपद्य सुखी निर्वृतः स्यादित्येतमेवार्थमाह्— आचार्यवान्पुरुषो वेदेति । तस्याम्य एवमाचार्यवतो मुक्ताविद्याभिनहनम्य तावदेव तावानेव कालः चिरं क्षेपः मदात्मस्वरूपसंपत्तेरिति वाक्यशेष:। कियानकालश्चिरमिति, उच्यते यावन्न विमोक्ष्ये न विमो-क्ष्यते इत्येतत्पुरुषव्यत्ययेन, सामध्यान ; येन कर्मणा शरी-रमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयात देहपातो यावदित्यर्थः । अथ नदैव मन् संपत्म्ये संपत्स्यतं इति पूर्ववत् । न हि देहमोक्षस्य सत्मंपत्तेश्च कालभेदोऽस्ति येन अथ-शब्दः आनन्तर्यार्थः म्यात् ॥

ननु यथा सद्विज्ञानानन्तरमेव देहपात: सत्संपित्तिश्च न भवति कर्मशेषवशात्, तथा अप्रवृत्तफल्लानि प्राग्ज्ञानोत्पत्ते-र्जन्मान्तरमंचितान्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलोपभोगार्थ पतिते अस्मिञ्जारीरान्तरमारब्धव्यम् । उत्पन्ने च ज्ञाने यावजीवं विहितानि प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि करोत्येवेति तत्फलोपभोगार्थं च अवद्यं द्यारीरान्तरमारब्धव्यम् , ततश्च कमीणि ततः शरीरान्तरम् इति ज्ञानानर्थेक्यम्, कर्मणां फलवत्त्वात् । अथ ज्ञानवतः क्षीयन्ते कर्माणि, तदा ज्ञानप्राप्तिसमकालमेव ज्ञानस्य सत्संपत्तिहेतुत्वानमोक्षः स्या-दिति शरीरपात: स्यात् । तथा च आचार्याभाव: इति आचार्यवान्पुरुषो वेद् इत्यनुपपत्तिः। ज्ञानान्मो-क्षाभावप्रसङ्गश्च देशान्तरप्राप्त्युपायज्ञानवदनैकान्तिकफलत्वं वा ज्ञानस्य । न, कर्मणां प्रवृत्ताप्रवृत्तफलवत्त्वविशेषो-पपत्ते:। यदुक्तम् अप्रवृत्तफलानां कर्मणां ध्रुवफलवत्त्वा-द्रुह्मविद: शरीरे पतिते शरीरान्तरमारब्धव्यम् अप्रवृत्तक-र्मफल्रोपभोगार्थमिति, एतद्सत् । विदुष: 'तस्य तावदेव चिरम् ' इति श्रुतेः प्रामाण्यात् । ननु 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति ' इत्यादिश्रुतेरिप प्रामाण्यमेव । सत्यमेवम् । तथापि प्रवृत्तफलानामप्रवृत्तफलानां च कर्मणां विशेषोऽस्ति । कथम् ? यानि प्रवृत्तफलानि कर्माणि यैर्विद्वच्छरीरमारब्धम्, तेषामुपभोगेनैव क्षय:— यथा आरब्धवेगस्य छक्ष्यमुक्ते-ष्वादे: वेगश्वयादेव स्थिति:, न तु लक्ष्यवेधसमकालमेव प्रयोजनं नास्तीति—तद्वत् । अन्यानि तु अप्रवृत्तफलानि इह प्राग्ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च कृतानि वा क्रियमाणानि वा अती-तजन्मान्तरकृतानि वा अप्रवृत्तफलानि ज्ञानेन द्द्धन्ते प्रायश्चित्तेनेव ; 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' इति स्मृतेश्च । 'श्लीयन्ते चास्य कर्माणि ' इति च आथर्वणे । अतः ब्रह्मविदः जीवनादिप्रयोजनाभावेऽपि प्र-वृत्तफलानां कर्मणामवञ्चमेव फलोपभोगः स्यादिति मुक्ते-पुवत् तस्य तावदेव चिरमिति युक्तमेवोक्तमिति यथोक्तदो-पचोदनानुपपत्तिः । ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च ब्रह्मविदः कर्माभा-वमवोचाम 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ' इत्यत्र । तच स्मर्तुम-र्हसि ॥

म य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्वे तत्मत्य स् आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

्स य इत्याद्युक्तार्थम् । आचार्यवान विद्वान् येन क्रमेण सन् संपद्यते, तं क्रमं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्वि-ज्ञापयत्विति । तथा सोम्य इति ह उवाच ॥

इति चतुर्देशखण्डभाष्यम् ॥

पश्चद्शः खण्डः॥

पुरुष सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्यु-पासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्ञानाति ॥ १॥

पुरुषं हे सोम्य उत उपतापिनं ज्वराद्युपतापवन्तं ज्ञातयः बान्धवाः परिवार्य उपासते मुमूर्षुम्— जानासि मां तव पितरं पुत्रं भ्रातरं वा—इति पृच्छन्तः । तम्य मुमूर्षोः यावन्न वाङ्मनिस संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजिन तेजः परस्यां देवतायाम् इत्येतदुक्तार्थम् ॥

अथ यदास्य वाङ्मनिस संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजिस तेजः परस्यां देवता-यामथ न जानाति॥ २॥

संसारिण: यः मरणक्रमः स एवायं विदुषोऽपि सत्सं-पत्तिक्रम इत्येतदाह— परस्यां देवतायां तेजिस संपन्ने अथ न जानाति । अविद्वांस्तु सत उत्थाय प्राग्मावितं व्याघा-दिभावं देवमनुष्यादिभावं वा विद्याति । विद्वांस्तु शास्त्रा- चार्योपदेशजनितज्ञानदीपप्रकाशितं सद्भद्धात्मानं प्रविश्य न आवर्तते इत्येष सत्मंपत्तिकमः । अन्ये तु मूर्धन्यया नाड्या उत्कम्य आदित्यादिद्वारेण मद्गच्छन्तीत्याद्धः ; तद्सत् , देश-कालिनिमत्तफलाभिसंधानेन गमनदर्शनात् । न हि सदासै-कत्वद्शिनः मत्याभिसंधम्य देशकालिनिमत्तफलाचनृताभिसंधिरुपपद्यते, विरोधात् । अविद्याकामकर्मणां च गमन-निमित्तानां सद्विज्ञानद्वुताशनविद्युष्टत्वात् गमनानुपपत्तिरेव ; पर्याप्रकामस्य कृतात्मनित्वहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ' इत्याद्यार्थवेण नदीसमुद्रदृष्टान्तश्रुतेश्च ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्च तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वेतकेतो इति भ्रय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

इति पश्चद्शः खण्डः ॥

स य इत्यादि समानम् । यदि मरिष्यतो मुसुक्षतश्च तुल्या सत्संपत्तिः, तत्र विद्वान् सत्संपन्नो नावर्तते, आवर्तते त्वविद्वान – इत्यत्र कारणं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्वि-ज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति ह उवाच ॥

इति पञ्चद्दाखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

पुरुष सोम्योत इस्तगृहीतमानयन्त्य-पहार्षीतस्तेयमकार्षीत्परशुमस्मे तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवान्दत-मात्मानं कुरुते सोऽन्दताभिसंघोऽन्दतेना-त्मानमन्तर्घीय परशुं तसं प्रतिगृह्णाति स दह्यनेऽथ इन्यते॥१॥

शृणु—यथा सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं नियहाय परीक्षणाय च उत अपि हस्तगृहीतं बद्धहस्तम् आनयन्ति राजपुरुषाः । किं कृतवानयमिति पृष्टाश्च आहु:—
अपहाषींद्धनमस्यायम् । ते च आहु:— किमपहरणमात्रेण
बन्धनमहिति, अन्यथा दत्तेऽपि धने बन्धनप्रसङ्गात्; इत्युक्ताः
पुनराहु:— स्तेयमकाषींत् चौर्येण धनमपहाषीदिति । तेष्वेवं
वदत्सु इतरः अपह्नुते— नाहं तत्कर्तेति । ते च आहु:— संदिह्यमानं स्तेयमकाषींः त्वमस्य धनस्येति । तिस्मिश्च अपह्नुवाने
आहु:— परशुमस्मै तपतेति शोधयत्वात्मानमिति । स यदि

तस्य स्तैन्यस्य कर्ता भवित बहिश्चापह्नुते, स एवंभूतः तत एवानृतमन्यथाभूतं सन्तमन्यथात्मानं कुरुते। स तथा अनृता-भिसंघोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय व्यवहितं कृत्वा परशुं तमं मोहात्प्रतिगृह्णाति, स दह्यते, अथ हन्यते राजपुरुषैः स्वक्र-तेनानृताभिसंधिदोषेण॥

अथ यदि तस्नाकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंघः स-त्येनात्मानमन्तर्घीय परशुं तसं प्रतिग्र-ह्वाति स न दस्चतेऽथ मुच्यते॥ २॥

अथ यदि तम्य कर्मणः अकर्ता भवति, तत एव सत्य-मात्मानं कुक्ते। स सत्येन तया स्तैन्याकर्तृतया आत्मानम-न्तृर्घाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स सत्याभिसंधः सन न दह्यते सत्यव्यवधानात्, अथ मुच्यते च मृषाभियोक्तृभ्यः। तप्तपरशुहस्ततळसंयोगस्य तुल्यत्वेऽपि स्तेयकर्त्रकर्त्रोरनृता-भिसंधो दह्यते न तु सत्याभिसंधः॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिद् सर्वे तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमिस श्वे-

नकेनो इति नद्धास्य विजज्ञाविति विज-ज्ञाविति ॥ ३ ॥

इति षोडशः खण्डः॥

स यथा सत्याभिसंधः तप्तपरशुप्रहणकर्मणि सत्यव्यवहित-हस्ततल्लान नादाह्येत न द्ह्येतेत्येतत्, एवं सद्वह्यसत्याभिमं-धेतरयो: शरीरपातकाले च तुल्यायां सत्संपत्तौ विद्वान सत्सं-पद्य न पुनर्व्याघदेवादिदेहमहणाय आवर्तते । अविद्वांस्तु विका-रानृताभिसंधः पुनर्व्योद्यादिभावं देवतादिभावं वा यथाकर्म यथाश्रुतं प्रतिपद्यते। यदात्माभिमंध्यनभिमंधिकृते मोक्षबन्धने, यच मूळं जगत:, यदायतना यत्प्रतिष्ठाश्च सर्वी: प्रजा:, यदा-त्मकं च सर्वे यञ्चाजममृतमभयं शिवमद्वितीयम् , तत्सत्यं स आत्मा तव, अतस्तत्त्वमसि श्वेतकेतो-इत्युक्तार्थमसकुद्वाक्यम्। कः पुनरसौ श्वेतकेतुः त्वंशव्दार्थः १ योऽहं श्वेतकेतुरुदालकस्य पुत्र इति वेद आत्मानमादेशं श्रुत्वा मत्वा विज्ञाय च, अश्रुतममतमविज्ञानं विज्ञातुं पितरं पप्रच्छ 'कथं नु भगवः स आदेशो भवति 'इति । स एष: अधिकृत: श्रोता मन्ता विज्ञाता तेजोबन्नमयं कार्यकरणसंघातं प्रविष्टा परैव देवता नामरूपव्याकरणाय-आदर्शे इव पुरुष: सूर्यादिरिव जलादौ प्रतिबिम्बरूपेण। स आत्मानं कार्यकरणेभ्यः प्रविभक्तं सद्रूपं सर्वात्मानं प्राक् पितुः श्रवणात् न विजज्ञौ । अथेदानीं पित्रा प्रतिबोधितः तत्त्वमसि इति दृष्टान्तैहेंतुभिश्च तत् पितु-रस्य ह किलोक्तं सदेवाहमस्मीति विजज्ञौ विज्ञातवान् । द्विवेचनमध्यायपरिसमाह्यर्थम् ।।

किं पुनरत्न षष्ठे वाक्यप्रमाणेन जिततं फलमात्मिनि श्रे कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरिधकृतत्विज्ञानिवृत्तिः तस्य फलम् , यमवोचाम त्वंशब्द्वाच्यमर्थे श्रोतुं मन्तुं च अधिकृत-मिवज्ञातिज्ञानफलार्थम् । प्राक्च एतस्माद्विज्ञानात् अह्मेवं करिष्याम्यिप्रहोत्रादीनि कर्माणि, अहमत्राधिकृतः, एषां च कर्मणां फलमिहामुत्र च भोक्ष्ये, कृतेषु वा कर्मसु कृतकर्तव्यः स्याम्— इत्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरिधकृतोऽस्मी-त्यात्मिनि यद्विज्ञानमभूत् तस्य, यत्सज्जगतो मूलम् एकमेवाद्वितीयं तत्त्वमसीत्यनेन वाक्येन प्रतिबुद्धस्य निवर्तते, विरोधात्—न हि एकस्मिन्नद्वितीये आत्मिन अयमहमस्मीिति विज्ञाते ममेदम् अन्यदनेन कर्तृत्वयम् इदं कृत्वा अस्य फलं भोक्ष्ये— इति वा भेदिबज्ञानमुपपद्यते । तस्मात् सत्स-त्याद्वितीयात्मिवज्ञाने विकारानृतजीवात्मिवज्ञानं निवर्तते इति युक्तम् । ननु 'तत्त्वमिस 'इत्यत्र त्वंशब्दवाच्येऽथें सद्धु-

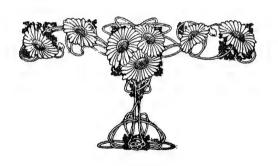
s. u. iv. 14

द्धिरादिश्यते – यथा आदित्यमनआदिषु ब्रह्मादिबुद्धिः, यथा च लोके प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्धिः, तद्वतः , न तु सदेव त्वमिति ; यदि सदेव श्वेतकेतुः स्यात्, कथमात्मानं न वि-जानीयात्, येन तस्मै तत्त्वमसीत्युपदिश्यते ? न, आदि-त्यादिवाक्यवैलक्षण्यात्- 'आदित्यो ब्रह्म ' इत्यादौ इतिशब्द-व्यवधानात् न साक्षाद्भद्वात्वं गम्यते, रूपादिमत्त्वाच आदि-त्यादीनाम् । आकाशमनसोश्च इतिशब्दव्यवधानादेव अब्रह्म-त्वम् । इह तु सत एवेह प्रवेशं दुर्शियत्वा 'तत्त्वमासि' इति निरङ्कशं सदात्मभावसुपदिशति। ननु पराक्रमादिगुणः सिंहोsिस त्वम् इतिवत् तत्त्वमसीति स्यात्। न, मृदादिवत् सदेकमेवाद्वितीयं सत्यम् इत्युपदेशात् । न च उपचारवि-ज्ञानात् 'तस्य तावदेव चिरम्' इति सत्संपत्तिरुपदिश्येत । मृषात्वादुपचारविज्ञानस्य—त्विमन्द्रो यम इतिवत् । नापि स्तुति:, अनुपास्यत्वाच्छ्रेतकेतो: । नापि सत् श्वेतकेतुत्वो-पदेशेन स्तूयेत-न हि राजा दासस्त्वमिति स्तुत्यः स्यात् । नापि सतः सर्वात्मन एकदेशनिरोधो युक्तः तत्त्वमसीति-देशाधिपतेरिव ग्रामाध्यक्षस्त्वमिति । न च अन्या गति-रिह सदात्मत्वोपदेशात् अर्थान्तरभूता संभवति । ननु सद-स्मीति बुद्धिमात्रमिह कर्तव्यतया चोद्यते न त्वज्ञातं सद-

सीति ज्ञाप्यत इति चेत्। नन्वस्मिन्पक्षेऽपि 'अश्रुतं श्रुतं भव-ति ' इसाद्यनुपपन्नम् । न, सदस्मीति बुद्धिविधेः स्तुसर्थन्वात् । न, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरम् ' इत्युपदे-शात् । यदि हि सदस्मीति बुद्धिमात्रं कर्तव्यतया विधीयते न तु त्वंशब्दवाच्यस्य सद्रपत्वमेव, तदा न आचार्यवान्वेद इति ज्ञानोपायोपदेशो वाच्य: स्यात्। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् ' इत्येवमादिष्वर्थप्राप्तमेव आचार्यवत्त्वमिति, तद्वत् । 'तस्य तावदेव चिरम ' इति च क्षेपकरणं न युक्तं स्यात्, सदात्म-तत्त्वे अविज्ञातेऽपि सकृद्बुद्धिमात्तकरणे मोक्षप्रसङ्गात् । न च तत्त्वमसीत्युक्ते नाहं सदिति प्रमाणवाक्यजनिता बुद्धिः निवर्तियतुं शक्या ; नोत्पन्नेति वा शक्यं वक्तम् , सर्वोपनि-षद्वाक्यानां तत्परतयैवोपक्षयात् । यथा अग्निहोत्रादिविधि-जनिताग्निहोत्रादिकर्तव्यताबुद्धीनामतथार्थत्वमनुत्पन्नत्वं वा न शक्यते वकुम्—तद्वत् । यत्तूक्तं सदात्मा सन् आत्मानं कथं न जानीयादिति, नासौ दोष:, कार्यकरणसंघात-व्यतिरिक्तः अहं जीवः कर्ता भोक्तेस्यपि स्त्रभावतः प्राणिनां विज्ञानाद्र्शनात् । किमु तस्य सद्ात्मविज्ञानम् । कथमेवं व्यतिरिक्तविज्ञाने असति तेषां कर्तृत्वादिविज्ञानं संभवति दृइयते च । तद्वत्तस्यापि देहादिष्वात्मबुद्धित्वात् न स्यात्स- दात्मविज्ञानम् । तस्मात् विकारानृताधिकृतजीवात्मविज्ञान-निवर्तकमेव इदं वाक्यम् 'तत्त्वमसि ' इति सिद्धमिति ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥





॥ सप्तमोऽध्यायः ॥



रमार्थतत्वोपदेशप्रधानपरः

षष्ठोऽध्यायः सदात्मैकत्वनिर्णयपरत-यैवोपयुक्तः। न सतोऽर्वाग्विकारस्रक्ष-णानि तत्त्वानि निर्दिष्टानीत्यतस्तानि नामादीनि प्राणान्तानि क्रमेण नि-र्विदय तद्वारेणापि भूमाख्यं निरति-

शयं तत्त्वं निर्देक्ष्यामि— शाखाचन्द्रदर्शनवत्, इतीमं सप्तमं प्रपाठकमारभते; अनिर्दिष्ठेषु हि सतोऽर्वाक्तत्त्वेषु सन्मात्रे च निर्दिष्ठे अन्यद्प्यविज्ञातं स्यादित्यशङ्का कस्यचित्स्यात्, सा मा भूदिति वा तानि निर्दिदिक्षति; अथवा सोपानारोहण-वत् स्थूळादारभ्य सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च बुद्धिविषयं ज्ञापित्वा तदितिरिक्ते स्वाराज्येऽभिषेक्ष्यामीति नामादीनि निर्दिदिक्षति; अथवा नामाद्युक्तरोत्तरविशिष्टानि तत्त्वानि अनितरां च तेषामुत्कुष्टतमं भूमाख्यं तत्त्वमिति तत्स्तुत्यर्थं नामादीनां क्रमेणोपन्यासः। आख्यायिका तु परविद्यास्तुत्यर्था। कथम् ? नारदो देवार्षः कृतकर्तव्यः सर्वविद्योऽपि सन् अना-

त्मज्ञत्वात् ग्रुशोचैव, किमु वक्तव्यम् अन्योऽल्पविज्ञन्तुः अ-कृतपुण्यातिशयोऽकृतार्थे इति ; अथवा नान्यदात्मज्ञानान्नि-रतिशयश्रेयःसाधनमस्तीत्येतत्प्रदर्शनार्थे सनत्कुमारनारदा-ख्यायिका आरभ्यते, येन सर्वविज्ञानसाधनशक्तिसंपन्नस्यापि नारदस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव, येनोक्तमाभिजनविद्यावृक्त-साधनशक्तिसंपत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा प्राकृतपुरुषवत् सनत्कुमारमुपससाद श्रेयःसाधनप्राप्तये ; अतः प्रख्यापितं भवति निरतिश्यश्रेयःप्राप्तिसाधनत्वमात्मविद्याया इति ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सन-त्कुमारं नारदस्त इहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद तृतस्त ऊर्ध्व वक्ष्यामीति स होवाच॥१॥

अधीहि अधीष्व भगवः भगवित्रिति ह किळ उपस-साद । अधीहि भगव इति मन्त्रः । सनत्कुमारं योगी-श्वरं ब्रह्मिष्ठं नारदः उपसन्नवान् । तं न्यायतः उपसन्नं ह उवाच— यदात्मविषये किंचिद्वेत्थ तेन तत्प्रख्यापनेन मामुपसीद इदमहं जाने इति, ततः अहं भवतः विज्ञानात् ते तुभ्यम् ऊर्ध्वं वक्ष्यामि, इत्युक्तवित स ह उवाच नारदः ॥

ऋग्वेदं भगवोऽध्योमि यजुर्वेद् साम-

वेदमाथवेणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदं पित्र्य राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भ्रुतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्प-देवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

ऋग्वेदं भगवः अध्येमि स्मरामि, 'यद्वेत्थ' इति विज्ञानस्य पृष्टत्वात् । तथा यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थं वेदं
वेदशब्दस्य प्रकृतत्वात् इतिहासपुराणं पश्चमं वेदं वेदानां
भारतपश्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः । व्याकरणेन हि
पदादिविभागशः ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते; पित्रयं श्राद्धकल्पम्; राशिं गणितम्; देवम् उत्पातज्ञानम्; निधिं महाकालादिनिधिशास्त्रम्; वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्; एकायनं
नीतिशास्त्रम्; देवविद्यां निरुक्तम्; ब्रह्मणः ऋग्यजुःसामाख्यस्य विद्यां ब्रह्मविद्यां शिक्षाकरूपच्छन्दश्चितयः; भूतविद्यां भूततन्त्रम्; क्षत्रविद्यां धनुर्वेदम्; नक्षत्रविद्यां ज्यौतिषम्; सर्पदेवजनविद्यां सर्पविद्यां गारुडं देवजनविद्यां गन्धयुक्तिनृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि; एतत्सर्व हे भगवः
अध्येमि ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्म-

विच्छुत १ ह्येव मे भगवहृशेभ्यस्तराति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शो-चामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तार-यत्विति त १ होवाच यद्वै किंचैतद्ध्य-गीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३॥

सोऽहं भगवः एतत्सर्व जानन्निप मन्त्रविदेवास्मि शब्दार्थमात्रविज्ञानवानेवास्मीत्यर्थः । सर्वो हि शब्दः अभिधानमात्रम् अभिधानं च सर्व मन्त्रेष्वन्तर्भवति । मन्त्रविदेवास्मि
मन्त्रवित्कर्मविदित्यर्थः । 'मन्त्रेषु कर्माणि' इति हि वक्ष्यति ।
न आत्मवित् न आत्मानं वेद्मि । नन्वात्मापि मन्त्रैः प्रकारयत एवेति कथं मन्त्रविचेत् नात्मवित् ? न, अभिधानाभिध्यभेदस्य विकारत्वात् । न च विकार आत्मेष्यते । नन्वात्माप्यात्मशब्देन अभिधीयते । न, 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'यत्र नान्यत्परयति' इत्यादिश्वतेः । कथं तर्हि 'आत्मैवाधस्तात्' 'स आत्मा' इत्यादिश्वतेः । अत्मानं प्रत्याययन्ति ?
नैष दोषः । देहवति प्रत्यात्माने भेदविषये प्रयुज्यमानः
शब्दः देहादीनामात्मत्वे प्रत्याख्यायमाने यत्परिशिष्टं सत् ,
अवाच्यमपि प्रत्याययति— यथा सराजिकायां दृश्यमानायां सेनायां छत्रध्वजपताकादित्यवहिते अदृश्यमानेऽपि राजनि एष राजा दृश्यत इति भवति शब्दप्रयोगः ; तत्र को-ऽसौ राजेति राजविशेषनिरूपणायां दृश्यमानेतरप्रत्याख्याने अन्यस्मिन्नदृश्यमानेऽपि राजनि राजप्रतीतिर्भवेत्- तद्वत् । तस्मात्सोऽहं मन्त्रवित् कर्मविदेवास्मि, कर्मकार्यं च सर्वं वि-कार इति विकारज्ञ एवास्मि, न आत्मवित् न आत्मप्रकु-तिस्वरूपज्ञ इत्यर्थ: । अत एवोक्तम् 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति; 'यतो वाचो निवर्तन्ते ' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । श्रुतमाग-मज्ञानमस्त्येव हि यस्मात् मे मम भगवदृश्चेभ्यो युष्मत्स हशेभ्यः तराति अतिक्रामित शोकं मनस्तापम् अकृतार्थबुद्धि-ताम् आत्मवित् इति ; अतः सोऽहमनात्मवित्त्वात् हे भगवः शोचामि अकृतार्थबुद्धया संतप्ये सर्वदा; तं मा मां शोकस्य शोकसागरस्य पारम् अन्तं भगवान् तारयतु आत्मज्ञानो-डुपेन कृतार्थबुद्धिमापादयतु अभयं गमयत्वित्यर्थः। तम् एवमुक्तवन्तं ह उवाच- यहै किंच एतद्ध्यगीष्ठा: अधीत-वानसि, अध्ययनेन तद्र्थज्ञानमुपल्रक्ष्यते, ज्ञातवानसीत्येतत् , नामैवैतत्, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ' इति श्रुते: ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आधर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पश्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राज्ञिदेवो निधिर्वा- कोवाक्यमेकायनं देविवद्या ब्रह्मविद्या भूतिवद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सपे-देवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वोति ॥ ४ ॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद इद्यादि नामैवैतत् । नामो-पास्स्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या— यथा प्रतिमां विष्णुबुद्धचा उपास्ते, तद्वत् ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तलास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भ्रय इति नाम्नो वाव भ्र्योऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५॥

स यस्तु नाम ब्रह्मेत्युपास्ते, तस्य यत्फळं भवति, तच्छुणु — यावन्नाम्नो गतं नाम्नो गोचरं तत्र तस्मिन् नामविषये अस्य यथाकामचारः कामचरणं राज्ञ इव स्वविषये भवति । यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते इत्युपसंहारः । किमास्ति भगवः नाम्नो भूयः अधिकतरं यद्वह्मदृष्ट्यर्हमन्यदित्यभिन्नायः । सनत्कुमार आह— नाम्नो वाव भूयः अस्त्येवेति । उक्तः आह— यद्य-स्ति तन्मे भगवान्त्रवीतु इति ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेद् सामवेद्माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदं पित्र्य राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमे-कायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यार् सर्पदेवजनविद्यां दिवं च ए-थिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवा ५ अ मनुष्या ५ अ परा ५ अ वया ५ सि च तृणवनस्पतीव्श्वापदान्याकीटपतङ्गपि-पीलकं धर्मे चाधर्मे च सत्यं चारतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यदे वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्य-ज्ञापिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु ना-साधु न हृदयज्ञो नाहृद्यज्ञो वागेवैत-त्सर्वे विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

वाग्वाव । वागिति इन्द्रियं जिह्वामूळादिष्वष्टसु स्थानेषु स्थितं वर्णानामभिन्यश्चकम् । वर्णाश्च नामेति नाम्नो वाग्भू- यसीत्युच्यते। कार्याद्धि कारणं भूयो दृष्टं लोके— यथा पु-ब्रात्पिता, तद्वत्। कथं च वाङ्नाम्नो भूयसीति, आह्—वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति— अयम् ऋग्वेद इति। तथा यजुर्वेद्मि-त्यादि समानम्। हृदयज्ञं हृदयप्रियम्; तद्विपरीतमहृदयज्ञम्। यत् यदि वाङ् नाभविष्यत् धर्मादि न व्यज्ञापयिष्यत्, वा-गभावे अध्ययनाभावः अध्ययनाभावे तद्र्धश्रवणाभावः त-च्छ्रवणाभावे धर्मादि न व्यज्ञापयिष्यत् न विज्ञातमभविष्य-दित्यर्थः। तस्मात् वागेवैतत् शब्दोच्चारणेन सर्वं विज्ञापयति। अतः भूयसी वाङ्नाम्नः। तस्माद्वाचं ब्रह्मोत्युपास्स्व।।

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावहाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

समानमन्यत् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै हे वा-मलके हे वा कोले हो वाक्षो मुष्टिरनु-भवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयी-येत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रा अ पर्मू अच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यातमा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपा-स्त्रेति॥ १॥

मनः मनस्यनविशिष्टमन्तः करणं वाचः भूयः। तद्धि मन-स्यनव्यापारवत् वाचं वक्तव्ये प्रेरयति। तेन वाक् मनस्यन्त-भवति। यच यस्मिन्नन्तभवति तत्तस्य व्यापकत्वात् ततो भूयो भवति। यथा वै लोके द्वे वा आमलके फले द्वे वा कोले बद्रफले द्वौ वा अक्षौ विभीतकफले मुष्टिरनुभवति मुष्टिस्ते फले व्याप्नोति मुष्टौ हि ते अन्तर्भवतः, एवं वाचं च नाम च आमलकाद्वित् मनोऽनुभवति। स यदा पुरुषः यस्मिन्काले मनसा अन्तः करणेन मनस्यति, मनस्यनं विवक्षाबुद्धिः, कथं मन्त्रान् अधीयीय उच्चारयेयम्— इत्येवं विवक्षां कृत्वा अथा-धीते। तथा कर्माणि कुर्वीयेति चिकीषांबुद्धं कृत्वा अथ कु-रुते। पुत्रांश्च पश्चंश्च इच्छेयेति प्राप्तीच्छां कृत्वा तत्प्राप्त्युपा-यानुष्ठानेन अथेच्छते, पुत्रादीन्प्राप्तोतीत्यर्थः। तथा इमं च छोकम् अमुं च उपायेन इच्छेयेति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठा-नेन अथेच्छते प्राप्तोति। मनो हि आत्मा, आत्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सित मनिस नान्यथेति मनो हि आत्मित्यु-च्यते। मनो हि छोकः, सत्येव हि मनिस छोको भवति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानं च इति मनो हि छोकः यस्मात्, तस्मा-नमनो हि बह्य। यत एवं तस्मान्मन उपास्स्वेति॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति त-नमे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

स यो मन इत्यादि समानम्॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भव-न्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥१॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्। संकल्पोऽपि मनस्यन-वत् अन्त:कर्णवृत्तिः, कर्तव्याकर्तव्यविषयाविभागेन सम-र्थनम् । विभागेन हि समर्थिते विषये चिकीषीबुद्धिः मनस्यनानन्तरं भवति । कथम् यद् वै संकल्पयते कर्त-व्यादिविषयान्विभजते—इदं कर्तुं युक्तम् इदं कर्तुमयुक्तमिति, अथ मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यादि । अथ अनन्तरं वाचम् ईरयति मन्त्राद्यचारणे। तां च वाचम् उ नाम्नि नामो-चारणनिमित्तं विवक्षां कृत्वा ईरयति । नाम्नि नामसामान्ये मन्त्रा: शब्दविशेषा: सन्त: एकं भवन्ति अन्तर्भवन्ती-त्यर्थ: । सामान्ये हि विशेष: अन्तर्भवति । मन्त्रेषु कर्मा-ण्येकं भवन्ति। मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते, न अमन्त्रकमस्ति कर्म । यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं सत् कर्म, ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यम् अस्मै फलायेति विधीयते, याप्युत्पत्तिक्रीह्मणेषु कर्मणां दृश्यते, सापि मन्त्रेषु छब्ध-सत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम् । न हि मन्त्राप्रका-

शितं कर्म किंचित् ब्राह्मणे उत्पन्नं दृइयते । त्रयीविहितं कर्मेति प्रसिद्धं छोके ; त्रयीशब्दश्च ऋग्यजुःसामसमाख्या । मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्— इति च आथर्वणे । तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्तीति ।।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लपतां द्यावाष्ट्राथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषा संकल्पत्ये वर्ष संकल्पते वर्षस्य संकल्पत्या अन्न संकल्पतेऽन्नस्य संकल्प् प्र्ये प्राणाः संकल्पन्ते प्राणाना संकल्प् प्रयो मन्नाः संकल्पन्ते प्राणाना संकल्प् प्रयो कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणा संकल्प् प्रयो कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणा संकल्प् प्रयो लोकः संकल्पते लोकस्य संकल्प् सर्व संकल्पते स एष संकल्पः संकल्प-सुपास्त्रोति ॥ २॥

तानि ह वा एतानि मनआदीनि, संकल्पेकायनानि संकल्पः एको अयनं गमनं प्रलयः येषां तानि संकल्पेकायनानि, संक ल्पात्मकानि उत्पत्तौ, संकल्पे प्रतिष्ठितानि स्थितौ। समक्लपतां संकर्पं कुतवत्याविवं हि सौश्च पृथिवी च द्यावापृथिवी, द्यावा-पृथिव्यौ निश्चले लक्ष्येते । तथा समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च एताविप संकल्पं कृतवन्ताविव । तथा समकल्पन्त आपश्च तेजश्च. खेन रूपेण निश्चलानि लक्ष्यन्ते । यतस्तेषां द्यावा-पृथिवयादीनां संक्लप्त्ये संकल्पनिमित्तं वर्षे संकल्पते समर्थी-भवति । तथा वर्षस्य संक्लुप्त्ये संकल्पनिमित्तम् अन्नं संक-ल्पते । बृष्टेहिं अन्नं भवति । अन्नस्य संकल्प्ये प्राणाः संकल्पः न्ते । अन्नमया हि प्राणाः अन्नोपष्टम्भकाः । 'अन्नं दाम' इति हि श्रुति: । तेषां संक्लप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते । प्राणवा-न्हि मन्त्रानधीते नाबलः । मन्त्राणां हि संक्लप्त्ये कर्माण्य-मिहोत्रादीनि संकल्पन्ते अनुष्ठीयमानानि मन्त्रप्रकाशितानि समर्थीभवन्ति फलाय । ततो लोकः फलं संकल्पते कर्मकर्त-समवायितया समर्थीभवतीत्यर्थ:। लोकस्य संक्लुप्यै सर्व ज-गत् संकल्पते स्वरूपावैकल्याय। एतद्धीदं सर्वे जगत् यत्फला-वसानं तत्सर्वं संकल्पमूलम् । अतः विशिष्टः स एष संकल्पः। अत: संकल्पमुपास्ख-इत्युक्त्वा फलमाह तदुपासकस्य ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते संक्छ-सान्वे स लोकान्धुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठिता- न् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानाव्यथमानोऽभि-सिध्यति यावत्संकलपत्त गतं तत्नास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मे-त्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाङ्क्य इति संकल्पाङ्माव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवा-न्ब्रवीत्विति ॥ ३॥

इति चुतुर्थः खण्डः ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्धया उपास्ते, संक्लप्तान्वै धा-त्रा अस्येमे छोकाः फलमिति क्लप्तान् समर्थितान् संकल्पि-तान् स विद्वान् ध्रुवान् नित्यान् अत्यन्ताध्रुवापेक्षया, ध्रुवश्च स्वयम्, लोकिनो हि अध्रुवत्वे लोके ध्रुवक्लप्तिव्यर्थेति ध्रुवः सन् प्रतिष्ठितानुपकरणसंपन्नानित्यर्थः, पशुपुत्रादिभिः प्रतितिष्ठतीति दर्शनात्, स्वयं च प्रतिष्ठितः आत्मीयोपक-रणसंपन्नः अव्यथमानान् अमित्रादिलासरहितान् अव्यथमा-नश्च स्वयम् अभिसिध्यति अभिप्राप्रोतीत्यर्थः । यावत्सं-कल्पस्य गतं संकल्पगोचरः तत्रास्य यथाकामचारो भ-वति, आसनः संकल्पस्य, न तु सर्वेषां संकल्पस्येति, उत्त-रफलवरोधात्। यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते इत्यादि पूर्ववत् ॥ इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पश्चमः खण्डः॥

चित्तं वाव संकल्पाङ्ग्यो यदा वै चेत-यतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्थथ वाच-मीरयति तामु नाङ्गीरयति नाङ्गि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥१॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भ्यः । चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकाळा-नुरूपबोधवत्त्वम् अतीतानागतविषयप्रयोजनिन्रूपणसामध्यें च, तत्संकल्पाद्पि भूयः । कथम् १ यदा वै प्राप्तं वस्तु इद-मेवं प्राप्तामिति चेतयते, तदा तदादानाय वा अपोहाय वा अथ संकल्पयते अथ मनस्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्मा-चचपि बहुविद्चित्तो भवति नायमस्ती-त्येवैनमाहुर्यद्यं वेद् यद्वा अयं विद्वान्ने-त्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यत्पविचित्तवा-न्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तः ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रति-ष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

तानि संकल्पादीनि कर्मफलान्तानि चित्तैकायनानि चि-

त्यपि पूर्ववत् । किंच चित्तस्य माहात्स्यम् । यस्माचित्तं संकल्पादिमूल्लम् , तस्मात् यद्यपि बहुवित् बहुशास्त्रादिपरिज्ञानवान्सन् अचित्तो भवति प्राप्तादिचेतियतृत्वसामर्थ्यविरिहतो
भवति, तं निपुणाः लौकिकाः नायमन्ति विद्यमानोऽप्यसत्सम
एवेति एनमाहुः । यचायं किंचित् शास्त्रादि वेद श्रुतवान्
तद्प्यस्य वृथैवेति कथयन्ति । कस्मात् १ यद्ययं विद्वान्स्यात्
इत्थमेवमचित्तो न स्यात् , तस्मादस्य श्रुतमप्यश्रुतमेवेत्याहुरित्यर्थः । अथ अल्पविदिप यदि चित्तवान्भवति तस्मा एतस्मै
तदुक्तार्थयहणायैव उत अपि शुश्रूषन्ते श्रोतुमिच्छन्ति तस्माच । चित्तं ह्येवैषां संकल्पादीनाम् एकायनमित्यादि पूर्ववत् ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चितान्वै स लोकान्ध्रवान्ध्रवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽ-व्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति याव-चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भ-वति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव-श्चित्ताद्भ्य इति चित्ताद्वाव भ्योऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३॥

चितान् उपचितान्बुद्धिमद्गुणैः स चित्तोपासकः ध्रुवा-नित्यादि च उक्तार्थम् ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृ-थिवी ध्यायतीवान्तिरक्षं ध्यायतीव चौ-ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता देवम-नुष्यास्तस्माच इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादा द्वा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिश्चना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादा द्व् शा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वोते ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्धथा-नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्या-नाद्भ्य इति ध्यानाद्वाव भ्रयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ इति षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भृयः । ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवता-द्यालम्बनेष्वचलः भिन्नजातीयैरनन्तरितः प्रत्ययसंतानः, एकाप्रतेति यमाहुः । दृश्यते च ध्यानस्य माहात्म्यं फलतः । कथम ? यथा योगी ध्यायनिश्वलो भवति ध्यानफललाभे, एवं ध्यायतीव निश्चला दृश्यते पृथिवी । ध्यायतीवान्तरि-क्षमित्यादि समानमन्यत् । देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्याः मनुष्या एव वा देवसमाः देवमनुष्याः शमादिगुणसंपन्नाः मनुष्या: देवस्वरूपं न जहतीत्यर्थ:। यस्मादेवं विशिष्टं ध्या-नम्, तस्मात् य इह लोके मनुष्याणामेव धनैर्विद्यया गुणैर्वा महत्तां महत्त्वं प्राप्नवन्ति धनादिमहत्त्वहेतुं लभन्त इत्यर्थः । ध्यानापादांशा इव ध्यानस्य आपादनम् आपादः ध्यानफल-लाभ इत्येतत् , तस्यांशः अवयवः कला काचिद्धानफललाभ-कलावन्त इवैवेद्यर्थ: । ते भवन्ति निश्चला इव लक्ष्यन्ते न क्षुद्रा इव । अथ ये पुनरल्पाः क्षुद्राः किंचिद्पि धनादिमह-त्त्वैकदेशमप्राप्ताः ते पूर्वोक्तविपरीताः कलाहेनः कलहशीलाः पिशुनाः परदोषोद्गासकाः उपवादिनः परदोषं सामीप्ययुक्त-मेव विद्तुं शीलं येषां ते उपवादिनश्च भवन्ति । अथ ये महत्त्वं प्राप्ताः धनादिनिमित्तं ते अन्यान्प्रति प्रभवन्तीति प्रभवः विद्याचार्यराजेश्वरादयो ध्यानापादांशा इवेलायुक्ता-र्थम् । अतः हद्यते ध्यानस्य महत्त्वं फलतः ; अतः भूय-श्चित्तात्; अतस्तदुपास्ख इत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदः सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वे-दानां वेदं पित्र्य ए राधिं दैवं निधिं वा-कोचाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भृतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या सप्र-देवजनाविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायं चाकाञां चापश्च तेजश्च देवा ५श्च मनु-ष्या ५ प्रा ५ वया ५ सि च तृणवन-स्पतीञ्छापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्म चाधर्म च सत्यं चानृतं च साधु चासा-धु च हृद्यज्ञं चाहृद्यज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजाना-

ति विज्ञानमुपास्खेति ॥ १ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानांद्भ्य: । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानं तस्य ध्यानकारणत्वात् ध्यानाद्भ्यस्त्वम् । कथं च तस्य भूयस्त्विमिति, आह — विज्ञानेन वै ऋग्वेदं विजानाति अयमृग्वेद इति प्रमाणतया यस्यार्थज्ञानं ध्यानकारणम् ।

तथा यजुर्वेदिमित्यादि । किंच पश्चादींश्च धर्माधर्मी शास्त्र-सिद्धौ साध्वसाधुनी छोकतः स्मार्ते वा दृष्टविषयं च सर्वे विज्ञानेनैव विज्ञानातीत्यर्थः । तस्माद्युक्तं ध्यानाद्विज्ञानस्य भूयस्त्वम् । अतो विज्ञानमुपारस्वेति ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञान-वतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तलास्य यथाकाम-चारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपा-स्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाङ्ग्य इति विज्ञा-नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्द्रवी-त्विति ॥ २ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

शृणु उपासनफलं विज्ञानवतः । विज्ञानं येषु लोकेषु तान्विज्ञानवता लोकान् ज्ञानवतश्च अभिसिध्यति अभिप्राप्तोनित । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानम्, अन्यविषयं नैपुण्यम्, तद्वद्विर्युक्ताँ होकान्प्राप्तोतील्यर्थः । यावद्विज्ञानस्येल्यादि पूर्वेवत् ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम्॥

अष्ट्रमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठ-न्परिचरिता भवति परिचरञ्जपसत्ता भ-वत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथि-वी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन यौर्बले-न पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पश्च-श्च वया श्मी च तृणवनस्पत्यः श्वापदा-न्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्ति-ष्ठति बलमुपास्खेति ॥ १ ॥

स यो वलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वलस्य गतं तत्राख यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाङ्क्य इति बलाङाव भूयोऽस्तीति तन्मे भग-वान्ब्रवीत्विति॥२॥

इति अष्टमः खण्डः॥

बलं वाव विज्ञानाद्भय: । बलमित्यन्नोपयोगजनितं मन-सो विज्ञेये प्रतिभानसामध्यम् । अनशनाद्दगादीनि 'न वै मा प्रतिभान्ति भो 'इति श्रुते:। शरीरेऽपि तदेवोत्थाना-दिसामध्र्ये यस्माद्विज्ञानवतां शतम्प्येकः प्राणी बलवाना-कम्पयते यथा हस्ती मत्तो मनुष्याणां शतं समुद्तिमपि। यसमादेवमन्नासुपयोगनिमित्तं बलम्, तस्मात्स पुरुषः यदा बली बलेन तद्वान्भवति अथोत्थाता उत्थानस्य कर्ता उ-त्तिष्ठंश्च गुरूणामाचार्यस्य च परिचरिता परिचरणस्य शुश्रू-षायाः कर्ता भवति परिचरन् उपसत्ता तेषां समीपगोऽ-न्तरङ्गः प्रियो भवतीत्यर्थः । उपसीदंश्च सामीप्यं गच्छन् एकायतया आचार्यस्यान्यस्य च उपदेष्टुः गुरोर्द्रष्टा भवति । ततस्तदुक्तस्य श्रोता भवति । तत इदमेभिरुक्तम् एवसुपप-द्यत इत्युपपत्तितो मन्ता भवति; मन्वानश्च बोद्धा भवति एवमेवेद्मिति । तत एवं निश्चित्य तदुक्तार्थस्य कर्ता अनु-ष्टाता भवति विज्ञाता अनुष्टानफलस्यानुभविता भवती-त्यर्थ: । किंच बलस्य माहात्म्यम् — बलेन वै पृथिवी तिष्ठ-तीत्यादि ऋज्वर्थम् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः॥

अन्नं वाव वलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि द्शा रात्रीनीश्रीयाद्यद्य ह जीवेद्थवाद्रष्टाश्री-तामन्ताबोद्धाकतीविज्ञाता भवत्यथान्न-स्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति वि-ज्ञाता भवत्यन्नसुपास्स्रोति ॥ १ ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयः, बलहेतुत्वात्। कथमन्नस्य बलहे-तुत्विमिति, उच्यते— यस्माद्बलकारणमन्नम्, तस्मात् यद्य-पि कश्चिद्दश रात्रीर्नाश्रीयात्, सोऽन्नोपयोगिनिमित्तस्य बल-स्य हान्या म्नियते; यद्यु ह जीवेत्— दृश्यन्ते हि मासमप्यनश्रन्तो जीवन्तः— अथवा स जीवन्नपि अद्रष्टा भवति गुरोरिप, तत एव अश्रोतेत्यादि पूर्वविपरीतं सर्व भव-ति। अथ यदा बहून्यहान्यनिशतः दर्शनादिक्रियास्वसमर्थः सन् अन्नस्यायी, आगमनम् आयः अन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थः, सः यस्य विद्यते सोऽन्नस्यायी। आयै इत्येतद्वर्णव्यत्ययेन। अथ अन्नस्याया इत्यपि पाठे एवमेवार्थ:, द्रष्टेत्यादिकार्य-श्रवणात् । दृश्यते हि अन्नोपयोगे दृशनादिसामर्थ्यम्, न तद्प्राप्तौ ; अतोऽन्नमुपास्स्वेति ॥

स योऽत्रं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भ्य इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवा-न्ववीत्विति॥

इति नवमः खण्डः ॥

फलं च अन्नवतः प्रभूतान्नान्वै स लोकान् पानवतः प्रभूतोदकांश्च अन्नपानयोर्नित्यसंबन्धात् लोकानभिसिध्यति । समानमन्यत् ॥

इति नवमखण्डभाष्यम्॥



दशमः खण्डः॥

आपो वावान्नाद्भ्यस्तस्माचदा सुवृ-ष्टिन भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं क नीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिभेव-त्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भवि-ष्यानित्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी य-दन्तिरक्षं यद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पद्यावश्च वयाश्सि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्त्वेति ॥ १॥

आपो वाव अन्नाद्भ्यस्य अन्नकारणत्वात्। यस्मादेवं तस्मात् यदा यस्मिन्काले सुवृष्टिः सस्वहिता शोभना वृष्टिः न भवति, तदा व्याधीयन्ते प्राणा दुः खिनो भवन्ति। किंनिमित्तमिति, आह्— अन्नमिस्मिन्संवत्सरे नः कनीयः अल्पतरं भविष्यतीति। अथ पुनर्यदा सुवृष्टिभैवति, तदा आनन्दिनः सुखिनः हृष्टाः प्राणाः प्राणिनः भवन्ति अन्नं

बहु प्रभूतं भविष्यतीति । अप्संभवत्वान्मूर्तस्य अन्नस्य आप एवेमा मूर्ताः मूर्तभेदाकारपरिणता इति मूर्ताः—येयं पृथिवी यदन्तंरिक्षमित्यादि । आप एवेमा मूर्ताः; अतः अप उपास्स्वेति ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति स-वीन्कामाध्स्तृप्तिमान्भवति यावद्पां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भयो भूय इत्य-द्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्त्र-वीत्विति ॥ २ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

फलम्—स यः अपो ब्रह्मेत्युपास्ते आप्नोति सर्वान्का-मान् काम्यान्मूर्तिमतो विषयानित्यर्थः । अप्संभवत्वाच तृप्तेरम्बूपासनातृप्तिमांश्च भवति । समानमन्यत् ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥



एकाद्शः खण्डः॥

तेजो वावाद्भयो भ्रयस्तद्वा एतद्वायु-मागृद्याकाश्चमभितपति तदाहुर्निशोच-ति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्व दशियत्वाथापः सृजते तदे-तद्भ्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्धिराहा-दाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्व दशी-यित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

तेजो वाव अच्छो भूयः, तेजसोऽप्कारणत्वात्। कथमप्का-रणत्विमिति, आह—यस्माद्व्योनिस्तेजः, तस्मात् तद्वा एत-तेजो वायुमागृह्य अवष्टभ्य स्वात्मना निश्चलीकृत्य वायुम् आकाशमभितपति आकाशमभिव्याप्नुवत्तपति यदा, तदा आहुलैंकिकाः—निशोचित संतपति सामान्येन जगत्, नित-पति देहान्, अतो विष्ट्यिति वै इति। प्रसिद्धं हि लोके का-रणमभ्युचतं दृष्टवतः कार्यं भविष्यतीति विज्ञानम्। तेज एव तत्पूर्वमात्मानमुद्भूतं दर्शयित्वा अथ अनन्तरम् अपः सृजते, अतः अप्सष्टृत्वाद्भूयोऽज्ञ्यस्तेजः। किंचान्यत्, तदेतत्तेज एव s. u. iv. 16

स्तनयित्ररूपेण वर्षहेतुर्भवति । कथम ? ऊर्ध्वाभिश्च ऊर्ध्व-गाभि: विद्युद्धि: तिरश्चीभिश्च तिर्यग्गताभिश्च सह आङ्गादाः स्तनयनशब्दाश्चरन्ति । तस्मात्तदर्शनादाहुर्लौकिका:–विद्योतते स्तनयति, वर्षिष्यति वै इत्याद्यक्तार्थम् । अतस्तेज उपा-स्स्वेति ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजखतो लोकान्भास्वतोऽपहततम-स्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं त-त्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्र-ह्येत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवा- . न्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

तस्य तेजस उपासनफलम्—तेजस्वी वै भवति । तेज-स्वत एव च लोकान्भास्वतः प्रकाशवतः अपहत्ततमस्कान बाह्याध्यात्मिकाज्ञानाद्यपनीततमस्कान् अभिसिध्यति । ऋज्व-र्थमन्यत् ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वाद्शः खण्डः॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्याग्न-राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न र-मत आकाशे जायत आकाशमभिजा-यत आकाशमुपास्स्वेति॥१॥

आकाशो वाव तेजसो भूयान, वायुसिहतस्य तेजमः का-रणत्वाद्योग्नः। 'वायुमागृद्ध' इति तेजसा सहोक्तः वायुरिति पृथगिह नोक्तस्तेजसः। कारणं हि लोके कार्याद्भृयो दृष्टम्— यथा घटादिभ्यो मृत्, तथा आकाशो वायुसिहतस्य तेजसः कारणिमिति ततो भूयान्। कथम्! आकाशे वै सूर्याचन्द्र-मसावुभौ तेजोरूपौ विद्युन्नक्षत्राण्यिश्च तेजोरूपाण्याकाशे-ऽन्तः। यच यस्यान्तर्वितं तदल्पम्, भूय इतरत्। किंच आकाशेन आह्वयति च अन्यमन्यः; आहूतश्चेतरः आकाशेन शृणोति; अन्योक्तं च शब्दम् अन्यः प्रतिशृणोति; आकाशे रमते कीडत्यन्योन्यं सर्वः; तथा न रमते च आकाशे ब-न्ध्वादिवियोगे; आकाशे जायते, न मूर्तेनावष्टब्धे। तथा आकाशमभि छक्ष्य अङ्करादि जायते, न प्रतिलोमम्। अतः आकाशमुपास्स्व ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाश-वतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंवाधानु-रुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आ-काशाद्भ्य इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः॥

फलं शृणु—आकाशवतो वै विस्तारयुक्तान्स विद्वाँह्रोका-न्प्रकाशवतः, प्रकाशाकाशयोनित्यसंबन्धात्प्रकाशवतश्च लो-कानसंबाधान् संबाधनं संबाधः संबाधोऽन्योन्यपीडा तद्र-हितानसंबाधान् उद्गगायवतः विस्तीर्णगतीन्विस्तीर्णप्रचाराँ-ह्रोकान् अभिसिध्यति । यावदाकाशस्येत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम्॥

त्रयोदशः खण्डः॥

स्मरो वावाकाशाङ्ग्यस्तस्माचचिप ब-हव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन श्रुणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्यदा वाव ते स्मरेयुरथ श्रुणुयुरथ मन्वीरन्नथ वि-जानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्म-रेण पश्चन्स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्सारस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भ्य इति स्मराद्वाव भ्रयोऽस्तीति तन्मे भग-वान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वाव आकाञ्चाद्भ्यः, स्मरणं स्मरोऽन्तःकरण-

धर्मः, स आकाशाद्भूयानिति द्रष्टव्यं छिङ्गव्यत्ययेन । स्मर्तुः स्मरणे हि स्नित आकाशादि सर्वमर्थवत्, स्मरण-वतो भोग्यत्वात् । असित तु स्मरणे सद्य्यसदेव, सत्त्व-कार्याभावात् । नापि सत्त्वं स्मृत्यभावे शक्यमाकाशादीना-मवगन्तुमित्यतः स्मरणस्य आकाशाद्भ्यस्त्वम् । दृश्यते हि छोके स्मरणस्य भ्यस्त्वं यस्मात्, तस्माद्यद्यपि समुदिता बहव एकिस्मन्नासीरन् उपविशेयुः, ते तत्र आसीनाः अन्योन्यभाषितमपि न स्मरन्तश्चेत्स्युः, नैव ते कंचन शब्दं श्रणुयुः; तथा न मन्वीरन्, मन्तव्यं चेत्स्मरेयुः तदा मन्वीरन्, स्मृत्यभावान्न मन्वीरन्, तथा न विजानीरन् । यदा वाव ते स्मरेयुर्मन्तव्यं विज्ञातव्यं श्रोतव्यं च, अथ श्रणुयुः अथ मन्वीरन् अथ विजानीरन् । तथा स्मरेण वै— मम पुत्रा एते— इति पुत्रान्विज्ञानाति, स्मरेण पश्चन् । अतो भूयस्त्वात्स्मरमुपास्स्वेति । उक्तार्थमन्यत् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥



चतुर्दशः खण्डः ॥

आज्ञा वाव स्मराङ्ग्यस्याज्ञोद्धो वै स्म-रो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रा अध्य पज्ञ अधिकात इमं च लोकममुं चेच्छत आज्ञामुपास्स्वेति ॥ १॥

आशा वाव स्मराद्भ्यसी, आशा अप्राप्तवस्त्वाकाङ्का, आशा तृष्णा काम इति यामाहुः पर्यायैः; सा च स्मरा-द्भूयसी। कथम्? आशया हि अन्तःकरणस्थया स्मरित स्मर्तव्यम्। आशाविषयरूपं स्मरन् असौ सारो भवति। अतः आशेद्धः आशया अभिवर्धितः स्मरभूतः स्मरन् ऋगादीन्मन्त्रानधीते; अधीत्य च तद्र्थं ब्राह्मणेभ्यो विधीश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते तत्फळाग्यैव; पुत्रांश्च पश्चंश्च कर्म-फळभूतान इच्छते अभिवाञ्छति; आशयैव तत्साधनान्यनु-तिष्ठति। इमं च ळोकम् आशेद्ध एव स्मरन् ळोकसंग्रह-हेतुभिरिच्छते। असुं च ळोकम् आशेद्धः स्मरन् तत्साधना-नुष्ठानेन इच्छते। अतः आशारशनावबद्धं स्मराकाशादिना-

मपर्यन्तं जगश्रकीभूतं प्रतिप्राणि । अतः आशायाः स्मरा-दपि भूयस्त्वभित्यत आशामुपास्स्व ॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्नास्य यथा-कामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते-ऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्त्रवी-त्विति ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

यस्त्वाशां ब्रह्मेत्युपास्ते श्रृणु तस्य फलम् आशया सदोपासितया अस्थोपासकस्य सर्वे कामाः समृध्यन्ति समृद्धिं गच्छन्ति । अमोघा ह अस्य आशिषः प्रार्थनाः सर्वाः भवन्ति; यत्प्रार्थितं सर्वे तदवश्यं भवतीत्पर्थः । यावदाशाया गतमित्यादि पूर्ववत् ॥

इति चतुर्दश्खण्डभाष्यम् ॥

पश्चद्शः खण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भ्यान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्व समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥

नामोपक्रममाशान्तं कार्यकारणत्वेन निमित्तनैमित्तिकत्वेन च उत्तरोत्तरभूयस्तया अवस्थितं स्मृतिनिमित्तसद्भावमाशारशनापशैर्विपाशितं सर्वे सर्वतो बिसमिव तन्तुभिर्यस्मिन्प्राणे समर्पितम्, येन च सर्वतो व्यापिना अन्तर्बहिगेतेन सूत्रे मणिगणा इव सूत्रेण प्रथितं विधृतं च, स एष
प्राणो वा आशाया भूयान । कथमस्य भूयस्त्वमिति, आह
दृष्टान्तेन समर्थयन तद्भूयस्त्वम्—यथा वै छोके रथचक्रस्य
अराः रथनाभौ समर्पिताः संप्रोताः संप्रवेशिता इत्येतत्,
एवमिन्मँ हिङ्कसंघातरूपे प्राणे प्रज्ञात्मिन दैहिके मुख्ये—यिस्मिन्परा देवता नामक्तप्रयाकरणाय आदर्शादौ प्रतिबिम्बव-

ज्ञीवेन आत्मना अनुप्रविष्टा; यश्च महाराजस्येव सर्वाधिकारीश्वरस्य, 'किस्मन्न्वह्मुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति
श्रुते:; यस्तु च्छायेवानुगत ईश्वरम्, 'तद्यथा रथस्यारेषु
नेमिरिपतो नाभावरा अर्पता एवमवेता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽपिताः स एष प्राण एव प्रज्ञातमा' इति कौषीतिकनाम्— अत एवमस्मिन्प्राणे सर्व
यथोक्तं समर्पितम्। अतः स एष प्राणोऽपरतन्तः प्राणेन
स्वशक्लेव याति, नान्यकृतं गमनादिक्रियास्वस्य सामर्थ्यमित्यर्थः। सर्व क्रियाकारकफल्लभेद्जातं प्राण एव, न प्राणाद्बहिर्भूतमस्तीति प्रकरणार्थः। प्राणः प्राणं ददाति।
यहदाति तत्स्वात्मभूतमेव। यस्मै ददाति तदिप प्राणायैव।
अतः पित्राद्याख्योऽपि प्राण एव।।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किं-चिद्भृशामिव प्रत्याह धिक्तवास्त्वित्येवैन-माहुः पितृहा वै त्वमिस मातृहा वै त्व-मिस भ्रातृहा वै त्वमिस स्वसृहा वै त्व-

मस्याचार्यहा वै त्वमिम ब्राह्मणहा वै त्वमसीति॥२॥

कथं पित्रादिशब्दानां प्रसिद्धार्थोत्सर्गेण प्राणविषयत्व-मिति, उच्यते— सित प्राणे पित्रादिषु पित्रादिशब्दप्रयो-गात् तदुत्कान्तौ च प्रयोगाभावात् । कथं तिदिति, आह— स यः कश्चित्पित्रादीनामन्यतमं यदि तं भृशमिव तदनतु-रूपमिव किंचिद्वचनं त्वंकारादियुक्तं प्रत्याह, तदैनं पार्श्वस्था आहुः विवेकिनः—धिक्त्वा अस्तु धिगस्तु त्वामिलेवम् । पितृहा वै त्वं पितुर्हन्तेत्यादि ॥

अथ यद्यप्येनानुत्कान्तप्राणाञ्छ्लेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्र्युः पितृहा-सीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्रा-ह्मणहासीति ॥ ३॥

अथ एनानेव उत्क्रान्तप्राणान् त्यक्तदेहनाथान् यद्यपि शूले-न समासं समस्य व्यतिषंदहेत् व्यत्यस्य मंदहेत्, एवमप्य-तिकूरं कर्म समासव्यत्यासादिप्रकारेण दहनलक्षणं तदेहसं-बद्धमेव कुर्वाणं नैवैनं ब्रूयुः पितृहेत्यादि । तस्मादन्वयव्य- तिरेकाभ्यामवगम्यते एतितपत्राद्याख्योऽपि प्राण एवेति ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पर्यन्नेवं मन्वान एवं विजा-नन्नतिवादी भवति तं चेह्र्युरतिवाद्यसी-त्यतिवाद्यस्मीति ब्र्यान्नापहुवीत ॥ ४ ॥

इति पश्चद्शः खण्डः ॥

तस्मात् प्राणो होवैतानि पित्रादीनि सर्वाणि भवति चळानि स्थिराणि च। स वा एष प्राणिवदेवं यथाक्तप्रकारेण
परयन् फळतो अनुभवन् एवं मन्वानः उपपित्तिभिश्चिन्तयन्
एवं विजानन उपपित्तिभिः संयोज्य एवमेवेति निश्चयं कुर्वश्रित्यर्थः। मननविज्ञानाभ्यां हि संभूतः शास्त्रार्थो निश्चितो
दृष्टो भवेत्। अत एवं पर्यम् अतिवादी भवति नामाद्याशान्तमतीत्य वद्नशीळो भवतीत्यर्थः। तं चेद्रूयुः तं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य हि जगतः प्राण आत्मा अहमिति ब्रुवाणं
यदि ब्रूयुः अतिवाद्यसीति, बाढम् अतिवाद्यस्मीति ब्रूयात्,
न अपहुवीत। कस्माद्धि असावपहुवीत १ यत्प्राणं सर्वेश्वरम्
अयमहमस्मि इत्यात्मत्वेनोपगतः॥

इति पञ्चद्राखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

स एष नारदः सर्वातिशयं प्राणं स्वमात्मानं सर्वोत्मानं श्रुत्वा नातः परमस्तीत्युपरराम, न पूर्ववित्वमस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति पप्रच्छ यतः । तमेवं विकारानृतब्रह्मविज्ञानेन परितुष्टमकृतार्थं परमार्थसत्यातिवादिनमात्मानं मन्यमानं योग्यं शिष्यं मिथ्याग्रहविशेषात् विप्रच्यावयन् आह भगवान्सनत्कुमारः—

एष तु वा अतिवद्ति यः सत्येनाति-वद्ति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

एष तु वा अतिवद्ति, यमहं वक्ष्यामि। न प्राण-विद्तिवादी परमार्थतः। नामाद्यपेक्षं तु तस्यातिवादि-त्वम्। यस्तु भूमाख्यं सर्वातिकान्तं तत्त्वं परमार्थसस्यं वेद, सोऽतिवादीत्याह— एष तु वा अतिवद्ति यः सस्येन परमार्थसस्यविज्ञानवत्त्तया अतिवद्ति। सोऽहं त्वां प्रपन्नः भगवः सस्येनातिवदानिः; तथा मां नियुनक्तु भग-वान्, यथा अहं सस्येनातिवदानीत्यभिप्रायः। यद्येवं सस्ये-नातिवदितुमिच्छसि, सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञासितव्यभित्यु-क्त आह नारदः। तथास्तु तर्हि सस्यं भगवो विजिज्ञासे विशेषेण ज्ञातुमिच्छेयं त्वत्तोऽहमिति।। इति षोडशस्यण्डभाष्यम्॥

सप्तद्शः खण्डः॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदित ना-विजानन्सत्यं वदित विजानन्नेव सत्यं वदित विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यिम-ति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

इति सप्तद्भः खण्डः ॥

यदा वै सत्यं परमार्थतः विज्ञानाति— इदं परमार्थतः सत्यमिति, ततः अनृतं विकारजातं वाचारम्भणं हित्वा सर्वविकारावस्थं सदेवैकं सत्यमिति तदेव अथ वदति यद्व-दित । ननु विकारोऽपि सत्यमेव, 'नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणद्रछन्नः' 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति श्रु-त्यन्तरात्। सत्यमुक्तं सत्यत्वं श्रुयन्तरे विकारस्य, न तु परमार्थोपेक्षमुक्तम् । किं तर्हि १ इन्द्रियविषयाविषयत्वापेक्षं सच्च त्यचेति सत्यमित्युक्तं तहारेण च परमार्थसत्यस्योपल्यव्धिविनविक्षतेति । 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति च उक्तम् । इहापि तदिष्टमेव । इह तु प्राणविषयात्परमार्थसत्त्यविज्ञाना-

भिमानाद्व गुत्थाप्य नारदं यत्सदेव सत्यं परमार्थतो भूमा-ख्यम् , तद्विज्ञापयिष्यामीति एष विशेषतो विवक्षितोऽर्थः । नाविजानन्सत्यं वद्ति ; यस्त्वविजानन्वद्ति सोऽग्न्यादिश-ब्देनाग्न्यादीन्परमार्थसद्भूपान्मन्यमानो वद्ति ; न तु ते रूप-त्रय्व्यतिरेकेण परमार्थतः सन्ति । तथा तान्यपि रूपाणि सद्पेक्षया नैव सन्तीत्यतो नाविजानन्सत्यं वद्ति । विजा-नन्नेव सत्यं वद्ति । न च तत्सत्यविज्ञानमविजिज्ञासितम-प्रार्थितं ज्ञायत इत्याह—विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्य-मिति । यद्येवम् , विज्ञानं भगवो विजिज्ञासे इति । एवं सत्यादीनां च उत्तरोत्तराणां करोत्यन्तानां पूर्वपूर्वहेतुत्वं व्याख्येयम् ॥

इति सप्तद्शखण्डभाष्यम्॥

अष्टाद्शः खण्डः॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजि-ज्ञास इति ॥ १॥

यदा वै मनुत इति । मितः मननं तर्कः ॥ इति अष्टादशाखण्डभाष्यम्॥

एकोनविंशतितमः खण्डः॥

यदा वै श्रद्धात्यथ मनुते नाश्रद्ध-न्मनुते श्रद्धदेव मनुते श्रद्धा त्वेव वि-जिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञा-स इति ॥ १॥

इति एकोनविंशतितमः खण्डः ॥
मन्तव्यविषये आदरः आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा ॥
इति एकोनविंशतितमखण्डभाष्यम् ॥

विंशतितमः खण्डः॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ अइधाति नानि-स्तिष्ठञ्छ्रइधाति निस्तिष्ठन्नेव अइधाति निष्ठा त्वेच विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

इति विंशतितमः खण्डः ॥

निष्ठा गुरुशुश्रूषादितत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय ॥

इति विंशतितमखण्डभाष्यम् ॥

एकविंशः खण्डः॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वे-व विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो वि-जिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोति । कृतिः इन्द्रियसंयमः चित्तैकाष्रताकरणं च । सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि भवन्ति विज्ञा-नावसानानि ॥

इति एकविंशखण्डभाष्यम् ॥

द्वाविंदाः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासु-खं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा क-रोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

सापि कृतिः यदा सुखं छभते सुखं निरित्तशयं वक्ष्य-माणं लब्धव्यं मयेति मन्यते तदा भवतीत्यर्थः। यथा दृष्टफलसुखा कृतिः तथेहापि नासुखं लब्ध्वा करोति। भविष्यद्पि फलं लब्ध्वेत्युच्यते, तदुद्दिश्य प्रवृत्युपपत्ते: । अथेदानीं कृत्यादिषूत्तरोत्तरेषु सत्सु सत्यं ख्यमेव प्रति-भासत इति न तद्विज्ञानाय पृथग्यतः कार्य इति प्राप्तम्; तत इद्मुच्यते— सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यिमत्यादि । सुखं भगवो विजिज्ञास इत्यभिमुखीभूताय आह ।।

इति द्वाविंशखण्डभाष्यम्॥

त्रयोविंदाः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

इति त्रयोविंगः खण्डः ॥

यो वै भूमा महत् निरितशयं बिह्वित पर्यायाः, तत्सु-खम् । ततोऽवीकसातिशयत्वादल्पम् । अतस्तिसम्नलेषे सुखं नास्ति, अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात् । तृष्णा च दुःखबी-जम् । न हि दुःखबीजं सुखं दृष्टं ज्वरादि लोके । तस्मा-युक्तं नालेषे सुखमस्तीति । अतो भूमैव सुखम् । तृष्णा-दिदुःखबीजत्वासंभवाद्भन्नः ॥

इति त्रयोविंदाखण्डभाष्यम्॥

चतुर्विशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पर्यति नान्यच्छुणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्प-र्यत्यन्यच्छुणोत्यन्यद्विजानाति तद्रल्पं यो वै भूमा तद्मृतमथ यद्रल्पं तन्मर्त्यभ् स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्रे म-हिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १॥

किंलक्षणोऽसौ भूमेति, आह—यत्र यस्मिन्भून्नि तत्त्वे न अन्यद्रष्टव्यमन्येन करणेन द्रष्टा अन्यो विभक्तो दृश्यात्पश्वात । तथा नान्यच्छूणोति । नामक्ष्पयोरेवान्तर्भावाद्विषयभेदस्य तद्वाहकयोरेवेह दर्शनश्रवणयोर्भहणम् अन्येषां च
उपलक्षणार्थत्वेन । मननं तु अत्रोक्तं द्रष्टव्यं नान्यन्मनुत
इति, प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्विज्ञानस्य । तथा नान्यद्विज्ञानाति । एवंलक्षणो यः स भूमा । किमत्र प्रसिद्धान्यदर्शनाभावो भून्न्युच्यते नान्यत्पश्यतीत्यादिना,
अथ अन्यत्र पश्यति, आत्मानं पश्यतीत्येतत् । किंचातः ?
यद्यन्यदर्शनाद्यभावमात्रमित्युच्यते, तदा द्वैतसंव्यवहारविलक्षणो भूमेत्युक्तं भवति । अथ अन्यदर्शनविशेषप्रतिषेधेन
आत्मानं पश्यतीत्युच्यते, तदैकस्मिन्नेव क्रियाकारकफलभेदोऽभ्युपगतो भवत् । यद्येवं को दोषः स्यात् ? नन्वयमेव
दोषः — संसारानिवृत्तिः । क्रियाकारकफलभेदो हि संसार

ख.

इति । आत्मैकत्वे एव क्रियाकारकफलभेदः संसारविलक्षण इति चेत् , न, आत्मनो निर्विशेषैकत्वाभ्युपगमे दर्शनादि-क्रियाकारकफलभेदाभ्युपगमस्य शब्दमात्रत्वात् । अन्यदर्श-नाद्यभावोक्तिपक्षेऽपि यत्र इति अन्यत्र परयति इति च विशे-षणे अनर्थके स्यातामिति चेन-हर्यते हि लोके यत्र शून्ये गृहेऽन्यत्र पश्यतीत्युक्ते स्तम्भादीनात्मानं च न न पश्य-तीति गम्यते; एवमिहापीति चेत्, न, तत्त्वमसीत्येकत्वोप-देशाद्धिकरणाधिकर्तव्यभेदानुपपत्ते: । तथा सदेकमेवाद्धि-तीयं सत्यमिति षष्ठे निर्धारितत्वात् । 'अदृश्येऽनात्म्ये ' 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य ' 'विज्ञातारमरे केन विजानी-यात् ' इत्यादिश्रुतिभ्य: स्वात्मिन द्र्शनाद्यनुपपत्ति:। यत्र इति विशेषणमनर्थकं प्राप्तमिति चेत्, न, अविद्याकृतभेदापेक्ष-त्वात् , यथा सत्यैकत्वाद्वितीयत्वबुद्धिं प्रकृतामपेक्ष्य सदेकमे-वाद्वितीयमिति संख्याद्यनर्हमृष्युच्यते, एवं भूम्न्येकस्मिन्नेव यत्र इति विशेषणम् । अविद्यावस्थायामन्यदर्शनानुवादेन च भूम्भस्तद्भावत्वलक्षणस्य विवक्षितत्वात् नान्यत्पर्यति इति विशेषणम् । तस्मात्संसारव्यवहारो भूम्नि नास्तीति समुदा-यार्थ: । अथ यत्राविद्याविषये अन्योऽन्येनान्यत्पद्यतीति त-द्रपम् अविद्याकालभावीत्यर्थः ; यथा स्वप्नदृत्यं वस्तु प्राक्

प्रबोधात्तत्कालभावीति, तद्वत् । तत एव तन्मर्छे विनाशि स्वप्नवस्तुवदेव । तद्विपरीतो भूमा यस्तदमृतम् । तच्छब्दः अमृतत्वपरः ; स तर्हि एवंळक्षणो भूमा हे भगवन् कस्मिन्प्रतिष्ठित इति उक्तवन्तं नारदं प्रत्याह सनत्कुमारः — स्वे महिम्नीति स्वे आत्मीये महिम्नि माहात्म्ये विभृतौ प्रतिष्ठितो भूमा । यदि प्रतिष्ठामिच्छिसि कचित्, यदि वा परमार्थमेव पृच्छिसि, न महिम्न्यिप प्रतिष्ठित इति ब्रूमः ; अप्रतिष्ठितः अनाश्रितो भूमा कचिद्पीत्पर्थः ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहि-रण्यं दासभायं क्षेत्राण्यायतनानीति ना-हमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यान्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २॥

यदि स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः भूमा, कथं तह्यप्रितिष्ठ उच्य-ते ? शृणु— गोअश्वादीह महिमेत्याचक्षते । गावश्वाश्वाश्च गोअश्वं द्वन्द्वैकवद्भावः । सर्वत्र गवाश्वादि महिमेति प्रसि-द्भम् । तदाश्रितः तत्प्रतिष्ठश्चेत्रो भवति यथा, नाहमेवं स्वतोऽन्यं महिमानमाश्रितो भूमा चैत्रवदिति ब्रवीमि, अब हेतुत्वेन अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति व्यवहितेन संबन्धः। किंत्वेवं ब्रवीमीति ह उवाच— स एवेत्यादि ॥

इति चतुर्विंशखण्डभाष्यम्॥

पञ्जविंदाः खण्डः ॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चा-त्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेद् सर्वमित्यथातोऽहंकारादेश एवा-हमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुर-स्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद् सर्वमिति॥१॥

कस्मात्पुनः कचित्र प्रतिष्ठित इति, उच्यते— यस्मात्स एव भूमा अधस्तात् न तद्यतिरेकेणान्यद्विद्यते यस्मिन्प्रति-ष्ठितः स्यात् । तथोपरिष्ठादित्यादि समानम् । सित भूग्नोऽन्यस्मिन्, भूमा हि प्रतिष्ठितः स्यात्; न तु तद्स्ति । स एव तु सर्वम् । अतस्तस्मादसौ न कचित्प्रतिष्ठितः । 'यत्र नान्यत्पर्यति' इत्यधिकरणाधिकर्तव्यतानिर्देशात् स एवाध-स्तादिति च परोक्षनिर्देशात् द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा स्यादित्या-शङ्का कस्वचिन्मा भूदिति अथातः अनन्तरम् अहंकारादेशः अहंकारेण आदिश्यत इत्यहंकारादेशः । द्रष्टुरनन्यत्वदर्शनार्थे भूमैव निर्दिश्यते अहंकारेण अहमेवाधस्तादित्यादिना ॥ अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्ता-दात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ता-दात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद-५ सर्वमिति स वा एष एवं पश्चन्नेवं मन्वान एवं विजानशात्मरितरात्मकीड आत्मिमिथुन आत्मानन्दः स खराड्भव-ति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भव-ति अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषा५ सर्वेषु लोके-घ्वकामचारो भवति ॥ २॥

इति पश्चविंशः खण्डः ॥

अहंकारेण देहादिसंघातोऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिः इत्यतः तदाशङ्का मा भूदिति अथ अनन्तरम् आत्मादेशः
आत्मनैव केवल्लेन सत्स्वरूपेण शुद्धेन आदिश्यते । आत्मैव
सर्वतः सर्वम्— इत्येवम एकमजं सर्वतो व्योमवत्पूर्णम्
अन्यशून्यं पश्यन् स वा एष विद्वान् मननविज्ञानाभ्याम्
आत्मरितः आत्मन्येव रितः रमणं यस्य सोऽयमात्मरितः ।
तथा आत्मक्रीडः । देहमात्रसाधना रितः बाह्यसाधना
क्रीडा, लोके स्त्रीभिः सिखिभिश्च क्रीडतीति दर्शनात् । न
तथा विदुषः ; किं तर्हि, आत्मविज्ञानिभित्तमेवोभयं भव-

तीत्यर्थ:। मिथुनं द्वनद्वजनितं सुखं तदपि द्वनद्वनिरपेक्षं यस्य विदुष: । तथा आत्मानन्द:, शब्दादिनिमित्त: आन-न्द: अविदुषाम्, न तथा अस्य विदुष: ; किं तर्हि, आत्म-निमित्तमेव सर्वे सर्वदा सर्वप्रकारेण च ; देहजीवितभोगादि-निमित्तवाह्यवस्तुनिरपेक्ष इत्यर्थः । स एवंलक्षणः विद्वान जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि देहे स्वराडेव भ-वति । यत एवं भवति, तत एव तस्य सर्वेषु छोकेषु काम-चारो भवति। प्राणादिषु पूर्वभूमिषु 'तत्रास्य' इति तावन्मा-त्रपरिच्छित्रकामचारत्वमुक्तम् । अन्यराजत्वं च अर्थप्राप्तम् , सातिशयत्वात् । यथाप्राप्तस्वाराज्यकामचारत्वानुवादेन तत्त-त्रिवृत्तिरिहोच्यते—स स्वराडित्यादिना। अथ पुन: ये अन्य-था अतः उक्तद्र्शनाद्न्यथा वैपरीत्येन यथोक्तमेव वा सम्यक न विदुः, ते अन्यराजानः भवन्ति अन्यः परो राजा स्वामी येषां ते अन्यराजानस्ते । किंच क्षय्यहोकाः क्षय्यो होको येषां ते क्षय्यलोका:, भेददर्शनस्य अल्पविषयत्वात्, अल्पं च तन्मर्त्यमित्यवोचाम । तस्मात् ये द्वैतदर्शिनः ते क्षय्य-लोकाः खदर्शनानुरूप्येणैव भवन्ति : अत एव तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥

इति पञ्चविंशखण्डभाष्यम् ॥

षड्विंदाः खण्डः ॥

तख ह वा एतखैवं पर्यत एवं म-न्वानखैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर् आत्मत आ-काश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्म-त आविभीवतिरोभावावात्मतोऽन्नमा-त्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्या-नमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेद्र्स् सर्वमिति ॥ १॥

तस्य ह वा एतस्येत्यादि स्वाराज्यप्राप्तस्य प्रकृतस्य विदुष इत्यर्थः । प्राक्सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनोऽन्यस्मात्सतः प्राणादेनीमान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम् । सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ । तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यव-हार आत्मत एव विदुषः ॥ तदेष श्लोको न पर्यो मृत्युं पर्यति न रोगं नोत दुःखता ए सर्व ए ह पर्यः पर्यति सर्वमाप्तोति सर्वश् ह ति स एकधा भवति त्रिधा भवति पश्चधा स-सधा नवधा चैव पुनश्चैकाद्दाः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विष्-शातिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ श्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदिनकषायाय तमस-स्पारं दश्चिति भगवान्सनात्कुमारस्त ए स्कन्द इत्याचक्षते त ए स्कन्द इत्याच-क्षते॥ २॥

इति षड्विंशः खण्डः ॥

किंच तत् एतिसम्बर्धे एष श्लोकः मन्त्रोऽपि भवति—न पर्यः पर्यतीति पर्यः यथोक्तद्शी विद्वानित्यर्थः, मृत्युं मरणं रोगं ज्वरादि दुःखतां दुःखभावं चापि न पर्यति । सर्वे ह सर्वमेव स पर्यः पर्यति आत्मानमेव । सर्वे ततः सर्वमाप्रोति सर्वश: सर्वप्रकारैरिति। किंच स विद्वान प्राक्सू-ष्ट्रिप्रभेदात एकधैव भवति : एकधैव च सन् त्रिधादिभेदैरन-न्तभेदप्रकारो भवति सृष्टिकाले; पुनः संहारकाले मूलमेव स्वं पारमाधिकम् एकधाभावं प्रतिपद्यते स्वतन्त्र एव-इति विद्यां फलेन प्ररोचयन स्तौति। अथेदानीं यथोक्ताया विद्याया: सम्यगवभासकारणं मुखावभासकारणस्येव आ-दर्शस्य विद्युद्धिकारणं साधनमुपदित्रयते—आहारसुद्धौ । आह्रियत इत्याहार: शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगाय आह्रियते । तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य ग्रुद्धिः आहारशुद्धिः, रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः। तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्त:करणस्य शुद्धिः नैर्मरुयं भवति । सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवा अविच्छिन्ना स्मृति: अविस्मरणं भवति । तस्यां च लब्धायां स्मृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थ-पाशक्रपाणाम् अनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां प्रन्थीनां विप्रमोक्षः विशेषेण प्रमोक्षणं विना-शो भवतीति । यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूळं तस्मात्सा कार्येत्यर्थ: । सर्वे शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वा आख्या-यिकामुपसंहरति श्रुति: तस्मै मृदितकषायाय वार्श्वादि- रिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य रश्जनारूपत्वात् सः ज्ञानवैराग्याभ्यासरूपक्षारेण क्षालितः मृदितः विनाशितः यस्य नारदस्य, तस्मै योग्याय मृदितकषायाय तमसः अवियालक्षणात् पारं परमार्थतत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः । कोऽसौ १ भगवान् 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' एवंधमी सनात्कुमारः । तमेव सनत्कुमारं देवं स्कन्द इति आचक्षते कथयन्ति तद्विदः । द्विवंचनमध्यायपरिसमास्यर्थम् ॥

इति षड्वविंशखण्डभाष्यम्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये सप्तमोऽध्यायः समाप्तः॥





॥ अष्टमोऽध्यायः ॥



द्यपि दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्म 'सत्...एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मै-वेदं सर्वम्' इति षष्ठसप्तमयोरिधगत-म्, तथापि इह मन्दबुद्धीनां दिग्देशा-दिभेदबद्वस्तिति एवंभाविता बुद्धिः

न शक्यते सहसा परमार्थाविषया कर्तुमिति, अनिधाम्य च ब्रह्म न पुरुषार्थिसिद्धिरिति, तद्धिगमाय हृदयपुण्डरीकदेशः उपदेष्टव्यः। यद्यपि सत्सम्यक्प्रत्ययैकविषयं निर्गुणं च आ-त्मतत्त्वम्, तथापि मन्द्बुद्धीनां गुणवत्त्वस्येष्टत्वात् सत्यका-मादिगुणवत्त्वं च बक्तव्यम्। तथा यद्यपि ब्रह्मविदां स्त्र्यादि-विषयेभ्यः स्वयमेवोपरमो भवति, तथाप्यनेकजन्मविषयसे-वाभ्यासजनिता विषयविषया तृष्णा न सहसा निवर्तियतुं शक्यत इति ब्रह्मचर्यादिसाधनविशेषो विधातव्यः। तथा यद्यप्यात्मैकत्वविदां गन्तुगमनगन्तव्याभावादिवद्यादिशेष-स्थितिनिमित्तक्षये गगन इव विद्युद्धसूत इव वायुः दम्धेन्ध- न इव अग्नि: स्वात्मन्येव निवृत्तिः, तथापि गन्तृगमनादि-वासितबुद्धीनां हृदयदेशगुणिविशिष्टब्रह्मोपासकानां मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येत्यष्टमः प्रपाठक आरभ्यते । दिग्देशगु-णगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदृद्धयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम-सदिव प्रतिभाति । सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु ततः शनैः पर-मार्थसद्पि प्राह्यिष्यामीति मन्यते श्रुतिः—

अथ यदिद्मस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्ड-रीकं वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाद्यास्त-स्मिन्यद्न्तस्तद्न्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञा-सितव्यमिति ॥ १॥

अथ अनन्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं दहरम् अल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसहशं वेश्मेव वेश्म, द्वारपालादिमत्त्वात् । अस्मिन् ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः परख पुरम्—राज्ञोऽनेकश्रकृतिमद्यथा पुरम्, तथेदमनेकेन्द्रियमनोबुद्धिभिः स्वाम्यर्थकारिभिर्युक्तमिति ब्रह्मपुरम् । पुरे च वेश्म राज्ञो यथा, तथा तस्मिन्ब्रह्मपुरे शरीरे दहरं वेश्म, ब्रह्मण उपलब्ध्यिष्ठानिमत्यर्थः । यथा विष्णोः सालग्रामः । अस्मिन्ह स्वविकारशुङ्गे देहे नामस्प्याकरणाय प्रविष्टं सदाख्यं ब्रह्म जीवेन आत्मनेत्युक्तम् । तस्मादस्मिन्हृद्यपुण्डरीके वेश्मिन उपसंहृतकरणैर्वोद्धाविषय-

विरक्तैः विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्यसाधनाभ्यां युक्तैः वक्ष्यमाणगुणवद्धवायमानैः ब्रह्मोपलभ्यत इति प्रकरणार्थः । दहरः
अल्पतरः अस्मिन्दहरे वेदमिन वेदम्यनः अल्पत्वात्तदन्तर्वितनोऽल्पतरत्वं वेदमनः । अन्तराकाशः आकाशाख्यं ब्रह्म ।
'आकाशो वै नाम' इति हि वक्ष्यिति । आकाश इव अशरीरत्वात् सूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्याच । तस्मिन्नाकाशाछये यदन्तः मध्ये तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव च विशेषेण
जिज्ञासितव्यं गुर्वाश्रयश्रवणाद्युपायैरन्विष्य च साक्षात्करणीयमित्यर्थः ॥

तं चेद्र्युर्घदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पु-ण्डरीकं चेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाद्याः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्र्यात् ॥ २ ॥

तं चेत् एवमुक्तवन्तमाचार्य यदि ब्रूयुः अन्तेवासिनश्चो-दयेयुः; कथम्? यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे परिच्छित्रे अन्तः दहरं पुण्डरीकं वेदम, ततोऽप्यन्तः अरुपतर एव आकाशः। पुण्डरीक एव वेदमनि तावित्कं स्यात्। किं ततोऽरुपतरे खे यद्भवेदित्याहुः। दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तद्त्र विद्यते, न किंचन विद्यत इत्यभिष्ठायः। यदि नाम बद्रमात्रं किमपि

8. U. IV. 18

खि.

विद्यते, किं तस्यान्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा फलं विजिज्ञा-सितु: स्यात् ? अत: यत्तत्रान्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा न तेन प्रयोजनिमत्युक्तवतः स आचार्यो त्रूयादिति श्रुतेर्व-चनम् ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्त-हृदय आकाश उभे अस्मिन्यावाष्ट्रियी अन्तरेव समाहिते उभाविश्रश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युत्रक्षत्राणि यचा-खेहास्ति यच नास्ति सर्वे तदस्मिन्समा-हितसिति ॥ ३॥

शृणुत- तत्र यद्भ्थ पुण्डरीकान्त:स्थस्य खस्याल्पत्वात् तत्स्थमल्पतरं स्यादिति, तदसत् । न हि खं पुण्डरीकवेदम-गतं पुण्डरीकादल्पतरं मत्वा अवोचं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाञ्च इति । किं तर्हि, पुण्डरीकमरुपं तद्नुविधायि तत्स्थमन्त:-करणं पुण्डरीकाकाशपरिच्छित्रं तास्मिन्विशुद्धे संहतकरणानां योगिनां स्वच्छ इवोंदके प्रतिबिम्बरूपमादर्श इव च शुद्धे स्वच्छं विज्ञानज्योति:स्वरूपावभासं तावनमात्रं ब्रह्मोपलभ्यत इति दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यवोचाम अन्त:करणोपाधिनि-मित्तम् । स्वतस्तु यावान्वे प्रसिद्धः परिमाणतोऽयमाकाशः

भौतिकः, नावानेषोऽन्तर्हृद्ये आकाशः यस्मिन्नन्वष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च अवोचाम । नाष्याकाशतुल्यपरिमाणत्वमभिन्नेत्य तावानित्युच्यते । किं तर्हि, ब्रह्मणो-ऽनुरूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात् । कथं पुनर्ने आकाशसमभेव ब्रह्मेत्यवगम्यते, 'येनावृतं खं च दिवं महीं च', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः,' 'एतस्मिन्नु खल्बक्षरे गार्ग्याकाशः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । किं च उभे अस्मिन्यावापृथिवी ब्रह्माकाशे बुद्धचुपाधिविशिष्टे अन्तरेव समाहिते सम्यगाहिते न्थिते। 'यथा वा अरा नाभौ दृत्युक्तं हि; तथा उभाविभिन्न वायुश्चेत्यादि समानम् । यच्च अस्य आत्मन आत्मीयत्वेन देहवतोऽस्ति विद्यते इह लोके । तथा यच्च आत्मीयत्वेन न विद्यते। नष्टं भविष्यच्च नास्तीत्यु-च्यते। न तु अत्यन्तमेवासत्, तस्य हृद्याकाशे समाधानान्तुपपत्ते: ॥

तं चेह्र्युरिं स्थेष्ट्रे व्रह्मपुरे सर्वेष् समाहित स् सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वस्मते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥ तं चेत् एवमुक्तवन्तं ब्र्युः पुनरन्तेवासिनः अस्मिश्चेत् यथोक्ते चेत् यदि ब्रह्मपुरे ब्रह्मपुरोपलक्षितान्तराकाशे इत्यर्थः। इदं सर्वे समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः। कथमाचार्येणानुक्ताः कामा अन्तेवासिभिरुच्यन्ते! नैष दोषः। यच अस्य इहास्ति यच नास्तीत्युक्ता एव हि आचार्येण कामाः। अपि च सर्वशब्देन च उक्ता एव कामाः। यदा यस्मिन्काले एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं जरा वलीपिलतादिलक्षणा वयोहानिर्वा आप्रोति, शस्त्रादिना वा यृक्णं प्रध्वंसते विसंसते विनश्यति, किं ततोऽन्यदति-शिष्यते! घटनाशे देहनाशे-ऽपि देहाश्रयमुक्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशान्तश्यतीत्यभिप्रायः। एवं प्राप्ते नाशे किं ततोऽन्यत् यथोक्तादितिशब्यते अवतिष्ठते, न किंचनावतिष्ठत इत्यभिप्रायः।।

स ब्र्यान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विज्ञोको विजिधत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो
यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविज्ञान्ति यथानुज्ञासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं

जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥

एवमन्तेवासिभिश्चोदितः स आचार्यो ब्रूयात् तन्मतिम-पनयन् । कथम् ? अस्य देहस्य जरया एतत् यथोक्तमन्तरा-काशाख्यं ब्रह्म यस्मिन्सर्वे समाहितं न जीर्यति देहवन्न विक्रियत इत्यर्थ: । न च अख वधेन शस्त्रादिघातेन एतद्ध-न्यते, यथा आकाशम् ; किमु ततोऽपि सूक्ष्मतरमशब्दमस्पर्श ब्रह्म देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृत्रयत इत्यर्थ: । कथं देहेन्द्रिया-दिदोषैर्न स्पृश्यत इति एतिसम्नवसरे वक्तव्यं प्राप्तम् , तत्प्र-कृतव्यासङ्गो मा भूदिति नोच्यते। इन्द्रविरोचनाख्यायिका-यामुपरिष्टाद्वक्ष्यामो युक्तितः । एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं ब्रह्मेव पुरं ब्रह्मपुरम्; शरीराख्यं तु ब्रह्मपुरं ब्रह्मोपलक्षणा-र्थत्वात् । तत्तु अनृतमेव, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ' इति श्रुते:। तद्विकारे अनृतेऽपि देहग्रुङ्गे ब्रह्मोपलभ्यत इति ब्रह्मपुरिमत्युक्तं व्यावहारिकम् । सत्यं तु ब्रह्मपुरमेत-देव ब्रह्म, सर्वेञ्यवहारास्पदत्वात । अतः अस्मिन्पुण्डरीको-पलाक्षिते ब्रह्मपुर सर्वे कामा:, ये बहिर्भवद्भिः प्रार्थ्यन्ते, ते अस्मिन्नेव स्वात्मिन समाहिताः । अतः तत्प्राप्त्युपायमेवा-नुतिष्ठत, बाह्यविषयतृष्णां त्यजत इत्यभिप्राय: । एष आत्मा भवतां स्वरूपम । शृणुत तस्य लक्षणम्— अपहतपाप्मा,

अपहतः पाप्माः धर्माधर्माख्यो यस्य सोऽयमपहतपाप्मा । तथा विजर: विगतजर: विमृत्युश्च । तदुक्तं पूर्वमेव न वधे-नास्य इन्यत इति ; किमर्थे पुनरुच्यते ? यद्यपि देहसंबन्धि-भ्यां जरामृत्युभ्यां न संबध्यते, अन्यथापि संबन्धस्ताभ्यां स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । विशोक: विगतशोक: । शोको नाम इष्टादिवियोगनिमित्तो मानसः संतापः। विजिघत्सः विगताशनेच्छः । अपिपासः अपानेच्छः । ननु अपहतपाप्म-त्वेन जराद्य: शोकान्ता: प्रतिषिद्धा एव भवन्ति, कारण-प्रतिषेधात् । धर्माधर्मकार्या हि ते इति । जरादिप्रतिषेधेन वा धर्माधर्मयो: कार्याभावे विद्यमानयोर्प्यसत्समत्वभिति पृथकप्रतिषेघोऽनर्थक: स्यात्। सत्यमेवम् , तथापि धर्मकार्या-नन्दव्यतिरंकेण स्वाभाविकानन्दो यथेश्वरे, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म दित श्रुते:, तथा अधर्मकार्यजरादिन्यतिरंकेणापि जराद्दु:खस्वरूपं स्वाभाविकं स्यादित्याशङ्क्येत । अतः युक्तस्तिन्नवृत्तये जरादीनां धर्माधर्माभ्यां पृथक्प्रातिषेधः। जरादिप्रहणं सर्वदु:खोपलक्षणार्थम् । पापनिमित्तानां तु द्र:खानामानन्त्यात्प्रत्येकं च तत्प्रतिषेधस्य अशक्यत्वात् सर्व-दु:खप्रतिषेधार्थं युक्तमेवापहतपा प्मत्ववचनम् । सत्याः अवि-तथाः कामाः यस्य सोऽयं सत्यकामः । वितथा हि संसा-

रिणां कामा: ; ईश्वरस्य तद्विपरीता: । तथा कामहेतवः संकल्पा अपि सत्याः यस्य स सत्यसंकल्पः । संकल्पाः कामाश्च शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्ताः ईश्वरस्य, चित्रगुवत्; न स्वतः 'नेति नेति' इत्युक्तत्वात् । यथोक्तळक्षण एष आत्मा विज्ञेयो गुरुभ्यः शास्त्रतश्च आत्मसंवेद्यतया च स्वाराज्यकान्मैः । न चेद्विज्ञायते को दोषः स्यादिति, श्रणुत अत्र दोषं दृष्टान्तेन— यथा ह्येव इह छोके प्रजाः अन्वाविश्वन्ति अनुवर्तन्ते यथानुशासनम्; यथेह प्रजाः अन्यं स्वामिनं मन्य-मानाः तस्य स्वामिनो यथा यथानुशासनं तथा तथान्वाविश्वन्ति । किम् १ यं यमन्तं प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागं च अभिकामाः अर्थिन्यः भवन्ति आत्मनुद्धयनुरूपम्, तं तमेव च प्रत्यन्तादिम् उपजीवन्तीति । एष दृष्टान्तः अस्वातन्त्रयदोषं प्रति पुण्यफ्छोपभोगे ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एव मेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येता श्रेश्व स-त्यान्कामा श्रुतेषा श्रु सर्वेषु लोकेष्वकाम-चारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रज-न्त्येता श्रुश्व सत्यान्कामा श्रुतेषा श्रुष्ठ

लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

अथ अन्यो दृष्टान्तः तत्क्षयं प्रति तद्यथेहेत्यादिः । तत तत्र यथा इह लोके तासामेव स्वाम्यनुशासनानुवर्तिनीनां प्रजानां सेवादिजितो लोक: पराधीनोपभोग: क्षीयते अन्त-वान्भवति । अथ इदानीं दाष्ट्रीन्तिकमपसंहरति — एवमेव अमुत्र अग्निहोत्रादिपुण्यजितो छोकः पराधीनोपभोगः क्षी-यत एवेति । उक्तः दोषः एषामिति विषयं दर्शयति — तहा इत्यादिना । तत तत्र ये इह अस्मिँ होके ज्ञानकर्मणोरधिकताः योग्याः सन्तः आत्मानं यथोक्तलक्षणं शास्त्राचार्योपदिष्टम-ननुविद्य यथोपदेशमनु स्वसंवेद्यतामक्रत्वा ब्रजन्ति देहाद-स्मात्प्रयन्ति, य एतांश्च यथोक्तान सत्यान सत्यसंकल्पका-यीश्च स्वात्मस्थान्कामान अनुनुविद्य त्रजन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचार: अस्वतन्त्रता भवति— यथा राजानुशा-सनात्वार्तनीनां प्रजानामित्यर्थः । अथ ये अन्ये इह छोके आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य व्रजनित यथोक्तांश्च सत्यान्कामान् , तेषां सर्वेषु छोकेषु का-मचारो भवति — राज्ञ इव सार्वभौमस्य इह लोके ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम्

द्वितीयः खण्डः॥

स यदि पितृलोककामो भवति सं-कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्टन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १ ॥

कथं सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति, उच्यते— य आत्मानं यथोक्तलक्षणं हृदि साक्षात्कृतवान् वक्ष्यमाणब्रह्म-चर्यादिसाधनसंपन्नः मन् तत्स्थांश्च सत्यान्कामान्; स त्यक्त-देहः यदि पितृलोककामः पितरो जनयितारः त एव सुख-हेतुत्वेन भोग्यत्वात् लोका उच्यन्ते, तेषु कामो यस्य तैः पितृभिः संबन्धेच्छा यस्य भवति, तस्य संकल्पमात्रादेव पितरः समुत्तिष्ठन्ति आत्मसंबन्धितामापद्यन्ते, विशुद्धस-च्वतया सत्यसंकल्पत्वात् ईश्वरस्येव। तेन पितृलोकेन भोगेन संपन्नः संपत्तिः इष्टप्राप्तिः तया समृद्धः महीयते पूज्यते वर्धते वा महिमानमनुभवति।।

अथ यदि मातृलोककामो भवति सं-कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते॥२॥ अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सं- कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ३॥

अथ यदि खसुलोककामो भवति सं-कल्पादेवास्य खसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन खसुलोकेन संपन्नो महीयते॥ ४॥

अथ यदि सिवलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सिवलोकेन संपन्नो महीयते॥ ५॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भ-वित संकल्पादेवास्त्र गन्धमाल्ये सम्रक्ति-ष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो मही-यते ॥ ६॥

अथ यद्मन्नपानलोककामो भवति सं-कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्न-पानलोकेन संपन्नो महीयते॥ ७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समु- त्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संक-ल्पादेवास्य स्त्रियः समुक्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९॥

समानमन्यत् । मातरो जनियद्यः अतीताः सुखहेतु-भूताः सामर्थ्यात् । न हि दुःखहेतुभूतासु प्रामसूकरादिज-न्मिनिमित्तासु मातृषु विशुद्धसत्त्वस्य योगिनः इच्छा तत्सं-बन्धो वा युक्तः ॥

यं यमन्तमिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठाति तेन संपन्नो महीयते॥ १०॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

यं यमन्तं प्रदेशमिभकामो भवति, यं च कामं काम-यते यथोक्तव्यतिरेकेणापि, सः अस्यान्तः प्राप्तुमिष्टः कामश्च संकल्पादेव समुत्तिष्ठत्यस्य । तेन इच्छाविघाततया अभि-प्रेतार्थप्राप्ता च मंपन्नो महीयते इत्युक्तार्थम् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम्॥

तृतीयः खण्डः॥

त इमे सत्याः कामा अन्तापिधाना-स्तेषा इस्याना इस्तामन्तमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय रुभते ॥ १॥

यथोक्तात्मध्यानसाधनानुष्ठानं प्रति साधकानामुत्साहजननार्थमनुक्रोशन्साह—कष्टमिदं खलु वर्तते, यत्स्वात्मस्थाः
शक्यप्राप्या अपि त इमे सलाः कामाः अनृतापिधानाः,
तेषामात्मस्थानां स्वाश्रयाणामेव सतामनृतं बाह्यविषयेषु
स्त्रयत्रभोजनाच्छादनादिषु तृष्णा तिन्निमित्तं च स्वेच्छाप्रचारत्वं मिध्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्युच्यते। तिन्निमित्तं
सल्यानां कामानामप्राप्तिरिति अपिधानमिवापिधानम्। कथमनृतापिधाननिमित्तं तेषामलाभ इति, उच्यते—यो यो
हि यस्माद्स्य जन्तोः पुत्रो श्राता वा इष्टः इतः अस्माङ्गोकात् प्रैति प्रगच्छति स्रियते, तिमष्टं पुत्रं श्रातरं वा
स्वहृदयाकाशे विद्यमानमपि इह पुनर्दर्शनायेच्छन्नपि न
लभते।।

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता य-चान्यदिच्छन्न लभते सर्वे तद्त गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनुता-पिघानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहि-तमक्षेत्रज्ञा उपर्युपिर संचरन्तो न वि-न्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छ-न्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यन्तेन हि प्रत्युदाः ॥ २॥

अथ पुनः ये च अख विदुषः जन्तोर्जीवाः जीवन्तीह पुत्राः भ्रात्नादयो वा, ये च प्रेताः मृताः इष्टाः संबन्धिनः, यचान्यदिह लोके वस्नान्नपानादि रत्नानि वा वस्तिवच्छन् न लभते, तत्सर्वमत्र हृद्याकाशाख्ये ब्रह्मणि गत्वा यथो-केन विधिना विन्दते लभते । अत्र अस्मिन्हार्दाकाशे हि यस्मात् अस्य ते यथोक्ताः सत्याः कामाः वर्तन्ते अनु-तापिधानाः । कथमिव तदन्याय्यमिति, उच्यते—तत् तत्र यथा हिरण्यनिधि हिरण्यमेव पुनर्प्रहणाय निधातृभिः निधीयत इति निधिः तं हिरण्यनिधि निहितं भूमेरधस्ता-न्निक्षिप्तम् अक्षेत्रज्ञाः निधिशास्त्रीनिधिक्षेत्रमजानन्तः ते निधेः उपर्युपिर संचरन्तोऽपि निधि न विन्द्युः शक्यवेदनमिप, एवमेव इमाः अविद्यावत्यः सर्वा इमाः प्रजाः
यथोक्तं हृद्याकाशाख्यं ब्रह्मलोकं ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः
तम् अहरहः प्रत्यहं गच्छन्त्योऽपि सुपुप्रकाले न विन्दन्ति
न लभनते—एषोऽहं ब्रह्मलोकभावमापन्नोऽस्म्यद्येति । अनृतेन हि यथोक्तेन हि यस्मात् प्रत्यूढाः हृताः, स्वरूपादविद्यादिदोषैर्वहिरपकृष्टा इत्यर्थः । अतः कष्टमिदं वर्तते
जन्तूनां यत्स्वायत्तमिप ब्रह्म न लभ्यते इत्यभिप्रायः ॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्पैतदेव निरुक्त १ हृद्ययमिति तस्माङ्द्यमहरह-वी एवंवित्स्वर्गे लोकमेति ॥ ३॥

स वै यः 'आत्मापहतपाप्मा ' इति प्रकृतः, वै-शब्देन तं स्मारयित । एषः विवक्षित आत्मा हृदि हृदयपुण्डरीके आकाशशब्देनाभिहितः । तस्य एतस्य हृदयस्य एतदेव निरुक्तं निर्वचनम्, नान्यत् । हृदि अयमात्मा वर्तत इति यस्मात्, तस्माद्धृदयम्, हृदयनामनिर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृद्ये आत्मेत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । अहरहर्वे प्रत्यहम् एवंवित् हृदि अयमात्मेति जानन् स्वर्गं छोकं हार्द् ब्रह्म एति प्रतिप्रदेशे । ननु अनेवंविद्पि सुषुप्रकाले हार्द् ब्रह्म प्रतिपद्यते एव,

'सता सोम्य तदा संपन्नः' इत्युक्तत्वात् । बाढमेवम् , तथाप्यस्ति विशेषः— यथा जानन्नजानंश्च सर्वो जन्तुः सद्भवेत, तथापि तत्त्वमसीति प्रतिबोधितः विद्वान्—सदेव नान्योऽस्मि— इति जानन् सदेव भवति ; एवमेव विद्वा-नविद्वांश्च सुपुप्ते यद्यपि सत्संपद्यते, तथाप्येवंविदेव स्वगै लोकमेतीत्युच्यते । देहपातेऽपि विद्याफलस्यावद्यंभावित्वा-दित्येष विशेषः ॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरा-त्समृत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रू-पेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचै-तद्मृतमभयमेतद्वह्योति तस्य ह वा एत-स्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४॥

, सुपुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नः सन् सम्यक्प्र-सीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोविषयेन्द्रियसंयोगजातं कालुष्यं जहा-तीति संप्रसादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां साधारणः, तथापि एवंवित् स्वर्गे लोकमेतीति प्रकृतत्वात् एष संप्रसाद इति संनिहितवद्यक्रविशेषात् सः अथेदं शरीरं हित्वा अस्माच्छ-रीरात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां परित्यज्येत्यर्थः। न तु आसनादिव समुत्थायेति इह युक्तम्, स्वेन रूपेणेति विशे- षणात्— न हि अन्यत उत्थाय स्वरूपं संपत्तव्यम् । स्वरूपमेव हि तन्न भवति प्रतिपत्तव्यं चेत्स्यात् । परं परमात्मछक्षणं विज्ञितिस्वभावं ज्योतिरूपसंपद्य स्वास्थ्यमुपगम्येत्येतत् । स्वेन आत्मीयेन रूपेण अभिनिष्पद्यते, प्रागेतस्याः
स्वरूपसंपत्तेरिवद्यया देहमेव अपरं रूपम् आत्मत्वेनोपगत
इति तद्पेक्षया इद्मुच्यते— स्वेन रूपेणेति । अशरीरता हि
आत्मनः स्वरूपम् । यत्स्वं परं ज्योतिः स्वरूपमापद्यते संप्रसादः, एष आत्मेति ह उवाच—स ब्र्यादिति यः श्रुत्या नियुक्तः
अन्तेवासिभ्यः । किं च एतदमृतम् अविनाशि भूमा 'यो
वै भूमा तदमृतम् ' इत्युक्तम् । अत एवाभयम् , भूम्नो
दितीयाभावात् । अत एतद्रह्यति । तस्य ह वा एतस्य
ब्रह्मणो नाम अभिधानम् । किं तत् श सत्यमिति । सत्यं
हि अवितथं ब्रह्म । 'तत्सत्यं स आत्मा' इति हि उक्तम् ।
अथ किमर्थमिदं नाम पुनरूच्यते ? तदुपासनविधिस्तुत्यर्थम् ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मत्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदने-नोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवं-वित्स्वर्गे लोकमेति॥ ५॥ इति तृतीयः खण्डः॥ तानि ह वा एतानि ब्रह्मणो नामाक्षराणि त्रीण्येतानि सतीयमिति, सकारस्तकारो यमिति च। ईकारस्तकारे उबारणार्थोऽनुबन्धः, ह्रस्वेनैवाक्षरण पुनः प्रतिनिर्देशात्। तेषां तन् तत्र यत् सत् सकारः तद्मृतं सद्भ्रह्म — अमृतवाचकत्वादमृत एव मकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः। अथ यत्ति तकारः तन्मर्त्यम्। अथ यत् यम् अक्षरम्, तेनाक्षरेणामृतमर्त्याख्ये पूर्वे उमे अक्षरे यच्छति नियमयति वशीकरोत्यात्मनेत्यर्थः। यत् यस्मात् अनेन यमित्येतेन उमे यच्छति, तस्मात् यम्। संयते इव हि एतेन यमा छक्ष्येते। ब्रह्मनामाक्षरस्यापि इदममृतत्वादिधमवन्त्वं महाभाग्यम्, किमुत नामवतः—
इत्युपास्यत्वाय स्तूयते ब्रह्म नामिनवचनेन। एवं नामवतो वेत्ता एवंवित् । अहरहवी एवंवित्स्वर्ग छोकमेतीत्युक्तार्थम्।।

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥



चतुर्थः खण्डः ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतर् सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतर् सर्वे पाएमानोऽतो निवर्तन्ते ऽपहतपाएमा होष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

अथ य आत्मेति । उक्तलक्षणो यः संप्रसादः, तस्य स्वरूपं वक्ष्यमाणैरुक्तेरनुक्तैश्च गुणैः पुनः स्तूयते, ब्रह्मचर्य-साधनसंबन्धार्थम् । य एषः यथोक्तलक्षणः आत्मा, स सेनुतिव सेतुः । विधृतिः विधरणः । अनेन हि सर्व जगद्वणी-श्रमादिक्रियाकारकफलादिभेदिनयमैः कर्तुरनुरूपं विद्धता विधृतम् । अधियमाणं हि ईश्वरेणेदं विश्वं विनद्येद्यतः, तस्मात्स सेतुः विधृतिः । किमर्थं स सेतुरिति, आह—एषां भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्मफलाश्रयाणाम् असंभेदाय अविदारणाय अविनाद्यायेत्यत् । किविशिष्टश्चासौ सेतुरिति, आह—नैतम्, सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्य जिनमतः पर्राच्छेदके सती नैतं तरतः । यथा अन्ये संसारिणः कालेन अहोरात्रादिलक्षणेन परिच्लेद्या, न तथा अयं कालपरिच्लेद्य इत्यभिप्रायः, 'यस्माद्वीक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ' इति श्रुत्यन्तरात् । अत एव एनं न जरा तरित न प्राप्नोति ।

तथा न मृत्युः न शोकः न सुकृतं न दुष्कृतम्, सुकृतदुष्कृते धर्माधर्मी । प्राप्तिरत्र तरणशब्देन अभिप्रेता, नातिक्रमणम् । कारणं हि आत्मा । न शक्यं हि कारणातिक्रमणं कर्तुं कार्यण । अहोरात्रादि च सर्वं सतः कार्यम् । अन्येन हि अन्यस्य प्राप्तिः अतिक्रमणं वा क्रियेत, न तु तेनैव तस्य । न हि घटेन मृत्प्राप्यते अतिक्रम्यते वा। यद्यपि पूर्वम् 'य आत्मापहतपाप्मा ' इत्यादिना पाप्मादिप्रतिषेध उक्त एव, तथापीहायं विशेषः—न तरतीति प्राप्तिविषयत्वं प्रतिषिध्यते । तत्र अविशेषण जराद्यभावमात्रमुक्तम् । अहोरात्राद्या उक्ता अनुक्ताश्च अन्ये सर्वे पाप्मानः उच्यन्ते; अतः अस्मादात्मनः सेतोः निवर्तन्ते अप्राप्यैवेत्यर्थः । अपहतपाप्मा हि एष ब्रह्मैव छोकः ब्रह्मछोकः उक्तः ॥

तसाद्वा एत ६ सेतुं तीर्त्वान्धः सन्न-नन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युप-तापी सन्ननुपतापी भवति तसाद्वा एत ६ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पचते सकृदिभातो होवैष ब्रह्मलोकः॥ २॥

यसाच पाष्मकार्यमानध्यादि शरीरवतः स्यात् न त्व-शरीरस्य, तसाद्वा एतमात्मानं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य अनन्धो भवति देहव्त्त्वे पूर्वमन्धोऽपि सन् । तथा विद्धः सन् देह-वत्त्वे स दहवियोगे सेतुं प्राप्य अविद्धो भवति । तथोपता-पी रोगाद्युपतापवान्सन् अनुपतापी भवति । किंच यस्माद-होरात्रे न स्तः सेतौ, तस्माद्धा एतं सेतुं तीर्त्वो प्राप्य नक्त-मपि तमोरूपं रात्रिरपि सर्वमहरेवाभिनिष्पद्यते ; विज्ञह्या-सज्योति:स्वरूपमहरिवाहः सदैकरूपं विदुषः संपद्यत इत्य-र्थः । सकृद्धिभातः सदा विभातः सदैकरूपः स्वेन रूपेण एष ब्रह्मछोकः ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुवि-न्द्न्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तत् तत्रैवं सित एतं यथोक्तं ब्रह्मछोकं ब्रह्मचर्येण स्ती-विषयतृष्णात्मागेन शास्त्राचार्योपदेशमनुविन्दन्ति स्वातमसं-वेद्यतामापादयन्ति ये, तेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मवि-दाम एष ब्रह्मछोकः, नान्येषां स्त्रीविषयसंपर्कजाततृष्णानां ब्रह्मविदामपीत्यर्थः। तेषां सर्वेषु छोकेषु कामचारो भवती-त्युक्तार्थम्। तस्मात्परमम् एतत्साधनं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मविदामि-स्यभिप्रायः।।

इति चतुर्थखण्डभाष्यम्॥

पञ्चमः खण्डः ॥

य आत्मा सेतुत्वादिगुणै: म्तुत:, तत्प्राप्तये ज्ञानसहका-रिसाधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधातव्यमित्याह । यज्ञादिभिश्च तत्स्तौति कर्तव्यार्थम्—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्रह्मचर्येण होव यो ज्ञाता तं विन्दते-ऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्र-ह्मचर्येण होवेष्ट्रात्मानमनुविन्दते ॥ १॥

अथ यद्यक्ष इत्याचक्षते लोके परमपुरुषार्थसाधनं कथयिनत शिष्टाः, तद्वक्षचर्यमेव। यक्षस्यापि यत्फलं तत् ब्रह्मचर्यवाल्लॅभते; अतः यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्तव्यम्।
कथं ब्रह्मचर्यं यज्ञ इति, आह— ब्रह्मचर्यंणैव हि यस्मात्
यो ज्ञाता स तं ब्रह्मलोकं यज्ञक्यापि पारम्पर्येण फलभूतं
विन्दते लभते, ततो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति । यो ज्ञाता—
इत्यक्षरानुवृत्तेः यज्ञो ब्रह्मचर्यमेव । अथ यदिष्टमित्याचक्षते,
ब्रह्मचर्यमेव तत् । कथम् १ ब्रह्मचर्येणैव साधनेन तम्
ईश्वरम इष्ट्वा पूज्यित्वा अथवा एषणाम् आत्मविषयां कृत्वा

तमात्मानमनुविन्दते । एषणादिष्टमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥

अथ यत्सन्नायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य-मेव तद्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य-मेव तद्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ २॥

अथ यत्सत्रायणिमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत्। तथा मतः परस्मादात्मनः आत्मनस्त्राणं रक्षणं ब्रह्मचर्यसाधनेन विन्दते। अतः सत्रायणशब्दमि ब्रह्मचर्यमेव तत्। अथ यन्मौनिमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव ततः; ब्रह्मचर्येणैव साधनेन युक्तः सन् आत्मानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य पश्चात् मनुते ध्यायति। अतो मौनशब्दमि ब्रह्मचर्यमेव॥

अथ यदनाक्षकायनमित्याचक्षते ब्रह्म-चर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नइयति यं ब्र-ह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यद्रण्यायनमित्या-चक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्रश्च ह वै ण्य-श्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीय सरस्तदश्वत्थः सोमसवन-

स्तद्पराजिता पूर्वह्मणः प्रभुविमित ५ हिरण्मयम् ॥ ३॥

अथ यद्नाशकायनमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । यमात्मानं ब्रह्मचर्येण अनुविन्द्ते, स एष हि आत्मा ब्रह्मचर्यसाधनवतो न नद्दयति; तस्मादनाद्दाकायनमपि ब्र-ह्मचर्यमेव । अथ यद्रण्यायनमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । अरण्यशब्द्ययोर्णवयोर्न्रह्मचर्यवतोऽयनादरण्यायनं ब्र-ह्मचर्यम् । यो ज्ञानायज्ञः एषणादिष्टं सतस्त्राणात्सत्रायणं मननान्मोनम् अनशनादनाशकायनम् अरण्ययोर्गमनाद्र-ण्यायनम् इत्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थसाधनैः स्तुतत्वात् ब्रह्म-चर्य परमं ज्ञानस्य सहकारिकारणं साधनम् - इत्यतो ब्रह्म-विदा यन्नतो रक्षणीयमित्यर्थः। तत् तत्र हि ब्रह्मछोके अरश्च ह नै प्रसिद्धो ण्यश्च अर्णनौ समुद्रौ समुद्रोपमे वा सरसी, तृतीयस्यां भुवमन्तारेक्षं च अपेक्ष्य तृतीया द्यौ: तस्यां तृतीयस्याम् इत: अस्माङ्घोकादारभ्य गण्यमानायां दिवि । तत् तत्रैव च ऐरम् इरा अन्नं तन्मय: ऐर: मण्ड: तेन पूर्णम् ऐरं मदीयं तदुपयोगिनां मदकरं हर्षोत्पादकं सर: । तत्रैव च अश्वत्थो वृक्ष: सोमसवनो नामत: सोमो-८मृतं तिन्नस्रव: अमृतस्रव इति वा। तत्रैव च ब्रह्मछोके ब्रह्मचर्यसाधनरहितें ब्रह्मचर्यसाधनवद्भयः अन्यैः न जीयत इति अपराजिता नाम पूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य । ब्रह्मणा च प्रभुणा विशेषेण मितं निर्मितं तच हिरण्मयं सौवर्णे प्रभुविमितं मण्डपमिति वाक्यशेषः ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्म-लोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा स्मर्वेषु लोकेषु काम-चारो भवति॥ ४॥

इति पश्चमः खण्डः ॥

तत् तत्र ब्रह्मलोके एतावर्णवी यावरण्याख्यावुक्तो ब्रह्म-चर्येण साधनेन अनुविन्दन्ति ये, तेषामेव एषः यो व्या-ख्यातः ब्रह्मलोकः। तेषां च ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, नान्येषामब्रह्मचर्यपराणां बाह्यविषयासक्तबुद्धीनां कदाचिदपीत्यर्थः।।

नन्वत्र 'त्विमिन्द्रस्त्वं यमस्त्वं वरुणः' इत्यादिभिर्यथा कश्चित्स्तूयते महार्हः, एविमष्टादिभिः शब्दैः न स्ट्यादिवि-षयतृष्णानिवृत्तिमात्रं म्तुत्यर्हम्; किं तर्हि, ज्ञानस्य मोक्ष-साधनत्वात् तदेवेष्टादिभिः स्तूयत इति केचित् । न, स्च्यादिबाह्यविषयतृष्णापहृतिचत्तानां प्रत्यगात्मविवेकविज्ञानानुपपत्तेः, 'पराश्चि खानि च्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पइयति नान्तरात्मन् ' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः । ज्ञानसहकारिकारणं स्च्यादिविषयतृष्णानिवृत्तिसाधनं विधातव्यमेवेति युक्तैव तत्स्तुतिः । ननु च यज्ञादिभिः स्तुतं ब्रह्मचयेमिति यज्ञादीनां पुरुषार्थसाधनत्वं गम्यते । सत्यं गम्यते,
न त्विह ब्रह्मछोकं प्रति यज्ञादीनां साधनत्वमभिष्ठेत्य
यज्ञादिभिर्बह्मचर्यं स्तूयते ; कि तर्हि, तेषां प्रसिद्धं पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य । यथेन्द्रादिभिः राजा, न तु यत्रेन्द्रादीनां
च्यापारः तत्रैव राज्ञ इति— तद्वत् ।।

य इमेऽणवादयो ब्राह्मछोकिकाः संकल्पजाश्च पित्रादयो भोगाः, ते किं पार्थिवा आप्याश्च यथेह छोके दृश्यन्ते तद्दुदर्णववृक्षपूःस्वर्णमण्डपानि, आहोम्बित मानसप्रत्ययमात्राणीति । किंचातः ? यदि पार्थिवा आप्याश्च स्थूछाः स्युः,
हृद्याकाशे ममाधानानुपपत्तिः । पुराणे च मनोमयानि ब्रह्मछोके शरीरादीनीति वाक्यं विरुध्येतः 'अशोकमहिमम्'
इत्याद्याश्च श्रुतयः । ननु समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः
कूपा यज्ञा वेदा मन्त्राद्यश्च मूर्तिमन्तः ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते
इति मानसत्वे विरुध्येत पुराणस्मृतिः । न, मूर्तिमन्ते प्रसि-

द्धरूपाणामेव तत्र गमनानुपपत्तेः । तस्मात्त्रसिद्धमृर्तिव्यति-रेकेण सागरादीनां मृत्र्यन्तरं सागरादिभिरुपात्तं ब्रह्मछोक-गन्तृ कल्पनीयम् । तुल्यायां च कल्पनायां यथाप्रसिद्धा एव मानस्तः आकारवत्यः पुंस्त्र्याद्या मूर्तयो युक्ताः करुपयितुम् , मानसदेहानुरूप्यसंबन्धोपपत्ते: । दृष्टा हि मानस्य एव आकारवत्यः पुंस्त्र्याद्या मूर्तयः स्वप्ने । ननु ता अनृता एव; 'त इमे सत्या: कामा:' इति श्रुति: तथा सति विरुध्येत । न, मानसप्रत्ययस्य सत्त्वोपपत्तेः । मानसा हि प्रत्ययाः स्विपुरुषाद्याकाराः स्वप्ने दृइयन्ते । ननु जाय-द्वासनारूपाः स्वप्नदृश्याः, न तु तत्र स्त्र्याद्यः स्वप्ने वि-द्यन्ते । अत्यल्पमिद्मुच्यते । जामद्विषया अपि मानसप्र-त्ययाभिनिर्वृत्ता एव, सदीक्षाभिनिर्वृत्ततेजोबन्नमयत्वाजाप्र-द्विषयाणाम् । संकल्पमूला हि लोका इति च उक्तम् 'सम-क्लपतां द्यावापृथिवी 'इस्रव । मर्वश्रुतिषु च प्रत्यगात्मन उत्पत्तिः प्रलयश्च तत्रैव स्थितिश्च 'यथा वा अरा नाभौ' इत्यादिना उच्यते। तस्मान्मानसानां बाह्यानां च विषया-णाम् इतरेतरकार्यकारणत्वामिष्यत एव बीजाङ्करवत् । यद्यपि बाह्या एव मानसाः मानसा एव च बाह्याः, नानृतत्वं तेषां कदाचिद्पि स्वात्मनि भवति । ननु स्वप्ने दृष्टाः प्रतिबुद्धस्या-

नृता भवन्ति विषयाः । सत्यमेव । जाप्रद्वोधापेश्चं तु तदनृतत्वं न स्वतः । तथा स्वप्नबोधापेश्चं च जाप्रहृष्टविषयानृतत्वं
न स्वतः । विशेषाकारमात्रं तु सर्वेषां मिध्याप्रत्ययनिमित्तमिति वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम्, त्रीणि
रूपाणीत्येव सत्यम् । तान्यप्याकारिवशेषतोऽनृतं स्वतः
सन्मात्ररूपतया सत्यम् । प्राक्सदात्मप्रतिवोधात्स्वविषयेऽपि
सर्वे सत्यमेव स्वप्रदृश्या इवेति न कश्चिद्विरोधः । तस्मान्मानमा एव ब्राह्मछौकिका अरण्याद्यः संकल्पजाश्च पित्रास्यः कामाः । बाह्मविषयभोगवद्शुद्धिरिहतत्वाच्छुद्धसत्त्वसंकल्पजन्या इति निरतिशयसुखाः सत्याश्च ईश्वराणां भवनतीत्यर्थः । सत्सत्यासप्रतिवोधेऽपि रज्ज्वामिव कल्पिताः
सर्पाद्यः सदासम्बरूपतामेव प्रतिपद्यन्त इति सदात्मना
सत्या एव भवन्ति ।।

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥



षष्टः खण्डः॥

यस्तु हृद्यपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्मचयो-दिसाधनसंपन्नः त्यक्तवाद्यविषयानृततृष्णः सन् उपास्ते, तस्येयं मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येति नाडीखण्ड आरभ्यते—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पि-ङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्कस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पि-ङ्गल एष शुक्क एष नील एष पीत एष लोहितः॥१॥

अथ या एता: वक्ष्यमाणा: हृद्यस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबिन्धन्य: नाड्यः हृद्यमांसिपण्डात्स-र्वतो विनिःसृता: आदित्यमण्डलाद्व रदमयः, ताश्चेताः पिङ्गलस्य वर्णविद्योषविद्यिष्टस्य अणिन्नः सूक्ष्मरसस्य रसेन पूर्णाः तदाकारा एव तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः । तथा शुक्रस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य च रसस्य पूर्णा इति सर्वत्र अध्याहार्यम् । सौरेण तेजसा पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन कफेन अल्पेन संपर्कात् पिङ्गलं भवति सौरं तेजः पित्ताख्य-

म्। तदेव च वातभ्यस्त्वात् नीलं भवति। तदेव च कफभ्यस्त्वात् शुक्रम्। कफेन समतायां पीतम्। शोणितबाहुल्येन लोहितम्। वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः कथं
भवन्तीति। श्रुतिस्त्वाह—आदित्यसंबन्धादेव तत्तेजसो नाडिष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा इति। कथम्? असौ वा आदित्यः पिङ्गलो वर्णतः, एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष
पीत एष लोहित आदित्य एव।।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ
गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य
रइमय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं
चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते
तेऽमुष्मिन्नादित्ये सुप्ताः ॥ २ ॥

तस्याध्यातमं नाडीभि: कथं संबन्ध इति, अत्र दृष्टा-न्तमाह— तत् तत्र यथा लोके महान विस्तीणीः पन्था महापथः आततः व्याप्तः उभौ प्रामौ गच्छिति इमं च संनि-हितम् असुं च विष्ठकृष्टं दूरस्थम्, एवं यथा दृष्टान्तः महा-पथः उभौ प्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैताः आदित्यस्य रदमयः उभौ लोको अमुं च आदित्यमण्डलम् इमं च पुरुषं गच्छ-नित उभयत्र प्रविष्टाः । यथा महापथः । कथम् ! अमुष्मा-दादित्यमण्डलात् प्रतायन्ते संतता भवन्ति । ता अध्यात्म-मासु पिङ्गलादिवणीसु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ताः गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते प्रवृत्ताः संता-नभूताः सत्यः ते अमुष्मिन् । रदमीनामुभयलिङ्गत्वात् ते इत्युच्यन्ते ॥

तद्यत्रैतत्सुसः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भ-वति तं न कश्चन पाप्मा स्पृश्चति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३॥

तत् तत्र एवं सित यत्र यस्मिन्काले एतत् स्वपनम् अयं जीवः सुप्तो भवति । स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद्विशेषणं समस्त इति । उपसंहृतसर्वकरणवृत्तिरित्येतत् । अतः बाह्यविषयसंपर्कजितकालुष्याभावात् सम्यक् प्रसन्नः संप्रसन्नो भवति । अत एव स्वप्नं विषयाकाराभासं सानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति नानुभवतीत्यर्थः । यदैवं सुप्तो भवति, आसु सौरतेजःपूर्णासु यथोक्तासु नाडीषु तदा सृप्तः प्रविष्टः, नाडीभिद्वारभृताभिः हृदयाकाशं गतो भवतीत्यर्थः । न हि अन्यत्र सत्संपत्तेः

स्वप्नादर्शनमस्तिति सामर्थ्यात् नाडिष्विति सप्तमी तृतीयया परिणम्यते । तं सता संपन्नं न कश्चन न कश्चिद्पि धर्माधमेक्ष्पः पाप्मा स्पृश्ञतीति, स्वरूपाविभ्यित्त्वात् तदा आत्मनः ।
देहेन्द्रियविशिष्टं हि सुखदुः स्वकार्यप्रदानेन पाप्मा स्पृश्चतीति,
न तु सत्संपन्नं स्वरूपावस्थं कश्चिद्पि पाप्मा स्प्रष्टुमुत्सहते,
अविषयत्वात्। अन्यो हि अन्यस्य विषयो भवति, न त्वन्यत्वं
केनचित्कुतश्चिद्पि सत्संपन्नस्य । स्वरूपप्रच्यवनं तु आत्मनो
जाग्रत्स्वप्नावस्थां प्रति गमनं बाह्मविषयप्रतिबोधः अविद्याकामकर्मबीजस्य ब्रह्मविद्याहुताशादाहिनिमित्तिमित्यवोचाम षष्ठे
एवः तदिहापि प्रत्येतव्यम् । यदैवं सुप्तः, सौरेण तेजसा
हि नाड्यन्तर्गतेन सर्वतः संपन्नः व्याप्तः भवति । अतः
विशेषेण चश्चरादिनाडिद्वारैर्वाह्मविषयभोगाय अप्रसृतानि करणानि अस्य तदा भवन्ति । तस्माद्यं करणानां निरोधात्
स्वात्मन्येवावस्थितः स्वप्नं न विजानातीति युक्तम् ॥

अथ यत्रैतद्बलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावद्स्माच्छरीरा-दनुत्कान्तो भवति तावज्ञानाति ॥ ४ ॥ तत्र एवं सित, अथ यत्र यस्मिन्काले अबलिमानम् अबलभावं देहस्य रोगादिनिमित्तं जरादिनिमित्तं वा कुशी-भावम् एतत् नयनं नीतः प्रापितः देवदत्तो भवति मुमूर्षुर्यदा भवतीत्पर्थः । तमभितः सर्वतो वेष्टियित्वा आसीना ज्ञातयः आहुः — जानासि मां तव पुत्रं जानासि मां पितरं च इत्यादि । स मुमूर्षुः यावदस्माच्छरीरादनुत्कान्तः अनिर्गतः भवति तावत्पुत्रादीः जानाति ॥

अथ यत्नैतद्स्माच्छरीरादुत्कामत्यथै-तैरेव रिहमभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावित्क्षिप्येन्मनस्ता-वदादित्यं गच्छत्येतद्वे खळु लोकडारं विदुषां पपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

अथ यत्र यदा, एतिकयाविशेषणमिति, अस्माच्छरीरादु-त्कामित, अथ तदा एतैरेव यथोक्ताभिः रिझाभिः ऊर्ध्व-माक्रमते यथाकर्माजितं छोकं प्रैति अविद्वान् । इतरस्तु विद्वान् यथोक्तसाधनसंपन्नः स ओमिति ओंकारेण आत्मानं ध्यायन् यथापूर्वे वा ह एव, उद्घा ऊर्ध्वं वा विद्वांश्चेत् इतर-स्तिर्यञ्चेत्यभिष्रायः । मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः । स वि-द्वान् उत्क्रमिष्यन्याविश्वर्यन्मनः यावता कालेन मनसः श्वेपः खात्, तावता कालेन आदित्यं गच्छिति प्राप्नोति श्विप्नं गच्छतीस्तर्थः, न तु तावतैव कालेनेति विवक्षितम्। किमर्थमा-दिसं गच्छतीति, उच्यते— एतद्वै खलु प्रसिद्धं ब्रह्मलोकस्य द्वारं य आदिसः; तेन द्वारभूतेन ब्रह्मलोकं गच्छिति विद्वान। अतः विदुषां प्रपदनम्, प्रपद्यते ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपदनम्। निरोधनं निरोधः अस्मादादिस्यादिवदुषां भवतीति निरोधः, सौरेण तेजसा देहे एव निरुद्धाः सन्तः मूर्धन्यया नाड्या नोत्कमन्त एवस्थर्थः, 'विष्वङ्ङन्या' इति स्रोकान ॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःस्तिका। त-योध्वमायन्नसृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उ-त्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ६॥

तत् तस्मिन् यथोक्तेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति— शतं च एका एकोत्तरशतं नाड्यः दृदयस्य मांसिपण्डभूतस्य संबिन्धन्यः प्रधानतो भवन्ति, आनन्त्याद्देहनाडीनाम । ता-सामेका मूर्यानमिभिनि:सृता विनिर्गता । तयोध्वमायन गच्छ-न् अमृतत्वम् अमृतभावमेति । विष्वक् नानागतयः निर्यग्वि-सिपण्य अर्ध्वगाश्च अन्या नाड्यः भवन्ति संसारगमनद्वार-भूताः; न लमृतत्वाय; किं तिर्दे, उत्क्रमणे एव उत्कान्त्य-र्थमेव भवन्तीत्यर्थः । द्विरभ्यासः प्रकरणसमाष्ट्यर्थः ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

s. u. iv. 20

सप्तमः खण्डः॥

'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति हो-वाचैतद्मृतभयमेतद्वद्धा ' इत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ संप्रनादः ? कथं वा तस्याधिगमः, यथा सोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ? येन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते ! येन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते सं किंळक्षण आत्मा ? संप्रसादस्य च देहसंबन्धीनि पररूपाणि, ततो यदन्यत्कथं स्वरूपम ? इति एतेऽथी वक्तव्या इत्युक्तरो प्रनथ आरभ्यते । आख्यायिका तु विद्याप्रहणसं-प्रदानविधिप्रदर्शनार्थी विद्यास्तुत्यर्थी च— राजसेवितं पानीयमितिवत् ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको चिजिघत्सोऽपिपामः सत्यकामः सत्यसंकरूपः सोऽन्येष्टव्यः स चिजिज्ञासितव्यः स सवी५श्च लोकानामोति सर्वी५श्च कासान्यस्तयात्मानमनुविद्य चिजानानीति ह प्रजापतिहराच ॥

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकरुपः, यस्योपासनाय उपलब्ध्यर्थे हृद्यपुण्डरीकमभिहितम् , यस्मिन्कामाः समा-हिता: सत्या: अनृतापिधाना:, यदुपासनसहभावि ब्रह्मचर्य साधनमुक्तम , उपासनफलभूतकामप्रतिपत्तये च मूर्धन्यया नाड्या गतिरभिहिता, सोऽन्वेष्टव्यः शास्त्राचार्योपदेशैर्जा-तन्यः स विशेषेण ज्ञातुमेष्टन्यः विजिज्ञासितन्यः स्वसंवेद्यता-मापाद्यितव्य: । किं तस्यान्वेषणाद्विजिज्ञासनाच स्यादिति. उच्यते— स सर्वीश्र छोकानाप्रोति सर्वीश्र कामान ; यः तमात्मानं यथोक्तेन प्रकारेण शास्त्राचार्योपदेशेन अन्विष्य विजानाति स्वसंवेद्यतामापाद्यति, तस्य एतत्सर्वछोककामा-वाप्ति: सर्वोत्मता फलं भवतीति ह किल प्रजापतिरुवाच । अन्वेष्ट्रव्यः विजिज्ञासितव्य इति च एष नियमविधिरेव, न अपूर्वविधि:। एवभन्वेष्टच्यो विजिज्ञासितव्य इत्यर्थः, दष्टा-र्थत्वादन्वेष गिविजिज्ञासमयोः । दृष्टार्थत्वं च दर्शयिष्यति 'नाहसत्र शोरमं पर्यामि' इत्यनेन असकृत्। परक्रपेण च देहादिधर्भेरवगरयम्। नस्य अत्यनः स्वरूपाधिमने निपरी-ताघिगमनिवृत्तिर्देष्टं फल्लिमिति नियमार्थतैव अस्य विधेर्युक्ता, न त्वग्निहोत्रादीनामिव अपूर्वविधित्वमिह संभवति ॥

तहोशये देवासुरा अनुनुत्धिरे ते होचुद्देन्त तमान्यत्वाविषय्याची नगा- त्मानमन्विष्य सर्वाक्ष्य लोकानामोति सर्वाक्ष्य कामानितीन्द्रो हैव देवानाम-भिप्रवेद्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासं-विदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसका-श्रामाजग्मतुः॥ २॥

तद्धोभये इत्याद्याख्यायिकाप्रयोजनमुक्तम् । तद्ध किल प्रजापतेर्वचनम् उभये देवासुराः देवाश्चासुराश्च देवासुराः अनु परम्परागतं स्वकर्णगोचरापन्नम् अनुबुद्धिरे अनुबुद्धवन्तः । ते च एतत्प्रजापतिवचो बुद्धा किमकुर्वन्निति, उच्यते—ते ह ऊचुः उक्तवन्तः अन्योन्यं देवाः स्वपरिषदि असुराश्च—हन्त यदि अनुमितर्भवताम्, प्रजापतिनोक्तं तमात्मानमन्विच्छामः अन्वेषणं कुर्मः, यमात्मानमन्विच्छामः सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् इत्युक्तवा इन्द्रः हैव राजेव स्वयं देवानाम् इत्रान्देवांश्च भोगपरिच्छदं च मर्व स्थापयित्वा श्वरीरमात्रेणैव प्रजापति प्रति अभिप्रवन्नाज प्रगतवान्, तथा विरोचनः असुराणाम् । विनयेन गुरवः अभिगन्तव्या इत्येतहर्शयित, त्रैलोक्यराज्याच गुरुतरा विद्यति, यतः देवासुरराजौ महार्हभोगाहौँ सन्तौ तथा गुरुमभ्युपगतवन्तौ । तौ ह किल असंविदानावेव अन्योन्यं संविदमकुर्वाणौ विद्यान

फलं प्रति अन्योन्यभीष्यी दर्शयन्तौ समित्पाणी समिद्धार-इस्तौ प्रजापतिमकाशमाजग्मतुः आगतवन्तौ ॥

तौ ह द्राजि १ इतां वर्षाण ब्रह्मचर्यमूषतुस्तां ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छनताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरा विमृत्युर्विद्योको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकत्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः
स सर्वा १ अ लोकानाप्रोति सर्वा १ अ कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति
भगवतो वचो वेद्यन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥

तौ ह गत्वा द्वातिंशतं वर्षाणि शुश्रूषापरौ भूत्वा ब्रह्म-चर्यम ऊषतु: उषितवन्तौ । अभिप्रायज्ञः प्रजापितः तावु-वाच—िकिमिच्छन्तौ किं प्रयोजनमभिष्रेत्य इच्छन्तौ अवास्तम् उषितवन्तौ युवामिति । इत्युक्तौ तौ ह ऊचतुः—य आत्मे-त्यादि भगवतो वचो वेदयन्ते शिष्टाः, अतः तमात्मानं ज्ञातु-मिच्छन्तौ अवास्तमिति । यद्यपि प्राक्प्रजापतेः समीपागम - नात् अन्योन्यमीर्घ्यायुक्तावभूताम् , तथापि विद्याप्राप्तिप्रयोज-नगौरवात् त्यक्तरागद्वेषमोहेर्घ्यादिदोषावेव भूत्वा ऊषतुः ब्रह्म-चर्यं प्रजापतौ । तेनेदं प्रख्यापितमात्मविद्यागौरवम् ॥

तौ ह प्रजापितस्वाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतह्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु
परिख्यायते यश्चायमाद्शें कतम एष
हत्येष उ एवेषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत
इति होवाच ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

तौ एवं तपस्विनौ शुद्धकल्मषौ योग्यौ उपलक्ष्य प्रजा-पतिरुवाच ह— य एषोऽक्षिणि पुरुषः निवृत्तचक्षुर्भिर्मृदि-तकषायैः दृश्यते योगिभिर्द्रष्टा, एष आत्मापहतपाष्मादिगुणः, यमवोचं पुरा अहं यद्विज्ञानात्सर्वलोककामावाप्तः एतदमृतं भूमाख्यम् अत एवाभयम्, अत एव ब्रह्म वृद्धतममिति। अथै-तत्प्रजापतिनोक्तम् अक्षिणि पुरुषो दृश्यते इति वचः श्रुत्वा छायारूपं पुरुषं जगृहतुः। गृहीत्वा च दृढीकरणाय प्रजापति पृष्टवन्तौ— अथ योऽयं हे भगवः अप्सु परिख्यायते परि समन्तात् ज्ञायते, यश्चायमादर्शे आत्मनः प्रतिबिम्बाकारः परिख्यायते खङ्गादौ च, कतम एष एषां भगवद्भिरुक्तः, किं वा एक एव सर्वेदिवति । एवं पृष्टः प्रजापतिरुवाच— एष उ एव यश्चश्चिषि दृष्टा मयोक्त इति । एतन्मनिस कृत्वा एषु सर्वेद्वनतेषु मध्येषु परिख्यायत इति ह उवाच ॥

नतु कथं युक्तं शिष्ययोविषरीतप्रहणमनुज्ञातुं प्रजापतेः विगतदोषस्य आचार्यस्य सतः १ सत्यमेवम् , नानुज्ञातम् । कथम् १ आत्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यमहत्त्वबोद्धृत्वौ हि इन्द्र-विरोचनौ, तथैव च प्रथितौ लोकं ; तौ यदि प्रजापितना 'मूढौ युवां विपरीतप्राहिणौं इत्युक्तौ स्याताम् ; ततः तयोश्चि-त्ते दुःखं स्थात् ; तज्जनिताच चित्तावसादात् पुनःप्रश्रश्रवण्यद्यावधारणं प्रति उत्साहविधातः न्यात् ; अतो रक्षणीयौ शिष्याविति मन्यते प्रजापितः । गृह्णीतां तावत् , तदुद्शराव-दृष्टान्तेन अपनेष्यामीति च । नतु न युक्तम् एष उ एव इत्यनृतं वक्तुम् । न च अनृतमुक्तम् । कथम् १ आत्मनोक्तः अश्चि-पुरुषः मनिस संनिहिततरः शिष्यगृहीताच्छायात्मनः ; सर्वेषां चाभ्यन्तरः 'सर्वान्तरः' इति श्रुतेः ; तमेवावोचत् एष उ एव इति ; अतो नानृतमुक्तं प्रजापितना ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम्॥

अष्टमः खण्डः ॥

तथा च तयोर्विपरीतमहणनिवृत्त्यर्थे हि आह-

उद्शराव आत्मानमवेक्ष्य यदातमनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होद्-शरावेऽवेक्षांचकाते तौ ह प्रजापतिकवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वेमेवेदमा-वां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १॥

उदशरावे उदकपूर्णे शरावादौ आत्मानमवेक्ष्य अनन्तरं यन् तत्र आत्मानं पश्यन्तौ न विज्ञानीथः तन्मे मम प्र-ब्रूतम् आचक्षीयाथाम्— इत्युक्तौ तौ ह तथैव उदशरावे अवे-क्षांचक्राते अवेक्षणं चक्रतुः। तथा कृतवन्तौ तौ ह प्रजापित-स्वाच— किं पश्यथः इति । ननु तन्मे प्रब्रूतम् इत्युक्ता-भ्याम् उदशरावे अवेक्षणं कृत्वा प्रजापतये न निवेदितम्— इदमावाभ्यां न विदितमिति, अनिवेदिते च अज्ञानहेतौ ह प्रजापितकवाच—िकं पश्यथ इति, तत्र कोऽभिप्राय इति; उच्यते—नैव तयो: इदमावयोरिविदितमित्याशङ्का अभूत्, छायात्मन्यात्मप्रत्ययो निश्चित एव आसीत्। येन वक्ष्यित 'तौ ह शान्तहृद्यौ प्रवन्नजतुः' इति। न हि अनिश्चिते अभिष्नेतार्थे प्रशान्तहृदयत्वमुपपद्यते। तेन नोचतुः इदमावाभ्यामविदितमिति। विपरीतग्नाहिणौ च शिष्यौ अनुपेक्षणीयौ इति स्वयमेव पत्रच्छ—िकं पश्यथः इति; विपरीतिश्चयापन्याय च वक्ष्यित 'साध्वछंकृतौ' इत्येवमादि। तौ ह उच्चतुः—सर्वमेवेदम् आवां भगवः आत्मानं पश्यावः आ छोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिकृपमिति, यथैव आवां हे भगवः छोमनखादिमन्तौ स्वः, एवमेवेदं छोमनखादिसहित-मावयोः प्रतिकृपमुद्शरावे पश्याव इति।।

तौ ह प्रजापितस्वाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोद्दारावेऽवेक्षे-थामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोद्दारावेऽवेक्षांचकाते तौ ह प्रजापितस्वाच किं पर्यथ इति ॥

तौ ह पुन: प्रजापितरुवाच च्छायात्मनिश्चयापनयाय-

साध्वळंकृतौ यथा स्वगृहे सुवसनौ महाईवस्त्रपरिधानौ परि-ष्क्रतौ च्छिन्नलोमनखौ च भूत्वा उदशरावे पुनरीक्षेथामिति । इह च न आदिदेश-यदज्ञातं तन्मे प्रब्रूतम् इति । कथं पुनर-नेन साध्वलंकारादि कृत्वा उदशरावे अवेक्षणेन तयोदला-यात्मग्रहोऽपनीतः स्थात् १ साध्वलंकारसुवसनादीनामागन्तु-कानां छायाकरत्वमुद्शरावे यथा शरीरसंबद्धानाम , एवं श-रीरस्यापि च्छायाकरत्वं पूर्वे बभूवेति गम्यते ; शरीरैकदेशा-नां च लोमनखादीनां नित्यत्वेन अभिष्रेतानामखण्डितानां छायाकरत्वं पूर्वमासीत् ; छिन्नेषु च नैव लोमनखादिच्छाया दृश्यते ; अतः लोमनखादिवच्छरीरस्याप्यागमापायित्वं सि-द्धिमिति उद्शरावादौ दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च देहस्य अनात्भत्वं सिद्धम् ; उद्शरावादौ छायाकरत्वात्, देहसं-बद्धालंकारादिवत् । न केवल्लमेतावत् , एतेन यावर्तिकचि-दात्मीयत्वाभिमतं सुखदु:खरागद्वेपमोहादि च कादाचि-त्कत्वात् नखलोमादिवद्नात्मेति प्रत्येतव्यम् । एवमशेषि-ध्यायहापनयनिमित्ते साध्वलंकारादिदृष्टान्ते प्रजापतिनोक्ते, श्रुत्वा तथा कृतवतोरिप च्छायात्मविपरीतप्रहो नापजगाम यस्मात्, तस्मात् स्वद्रोषेणैव केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानौ इन्द्रविरोचनौ अभूतामिति गम्यते । नौ पूर्ववदेव दृढ-

निश्चयौ पप्रच्छ-- किं पद्मयथः इति ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्व-लंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवे-मौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परि-ष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतद्मृतम-भयमेतद्रह्मेति तौ ह शान्तहृद्यौ प्रव-व्रजतुः॥ ३॥

तौ तथैव प्रतिपन्नौ, यथैवंदमिति पूर्ववत्, यथा साध्वलंकारादिविशिष्टौ आवां स्व:, एवमेवेमौ छायात्मानौ— इति सुतरां विपरीतिनिश्चयौ बभूवतुः । यस्य आत्मनो लक्षणम् 'य आत्मापहतपाष्मा' इत्युक्तवा पुनस्तद्विशेषमन्विष्यमाणयोः 'य एषोऽक्षिणि पुरुषां दृश्यते' इति साक्षादात्मिनि निर्दिष्टे, तद्विपरीतप्रहापनयाय उदशरावसाध्वलंकारदृष्टान्तेऽष्यभिहिते, आत्मस्वरूपबोधाद्विपरीतप्रहो नापगतः । अतः स्वदोषेण केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानसामध्याविति मत्वा यथाभि-प्रेतमेव आत्मानं मनसि निधाय एष आत्मीति ह उवाच एतद्मृतमभयमेतद्वद्वोति प्रजापतिः पूर्ववत् । न तु तदिभिष्रे-तमात्मानम्। 'य आत्मा 'इत्याद्यात्मलक्ष्णश्रवणेन अक्षिपुरुष-तमात्मानम्। 'य आत्मा 'इत्याद्यात्मलक्ष्णश्रवणेन अक्षिपुरुष-

श्रुत्या च उद्गरावाद्युपपत्त्या च संस्कृतौ तावत्। मद्वचनं सर्व पुनः पुनः स्मरतोः प्रतिबन्धक्षयाञ्च स्वयमेव आत्मविषये विवेको भविष्यतीति मन्वानः पुनर्जद्वाचर्यादेशे च तयोश्चित्त-दुः स्रोत्पत्तिं परिजिहीर्षन कृतार्थबुद्धितया गच्छन्तावप्युपे- क्षितवान्प्रजापतिः। तौ ह इन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ तुष्ट- हृदयौ कृतार्थबुद्धी इत्यर्थः; न तु शम एव; शमश्चेत् तयो- र्जातः विपरीतप्रहो विगतोऽभविष्यत् ; प्रवन्नजतुः गतवन्तौ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिक्वाचानुपल-भ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुप-निषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृद्य एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतासुप-निषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा प-रिचर्य आत्मानमेवेह महय्वात्मानं परि-चरसुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति।

एवं तयो: गतयो: इन्द्रविरोचनयो: राज्ञो: भोगासक्तयो: यथोक्तविस्मरणं स्यात् इत्याशङ्कय अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षवचनेन च चित्तदु:खं परिजिहीर्षु: तौ दूरं गच्छन्तौ अन्वीक्ष्य य आत्मापहतपाप्मा इत्यादिवचनवत् एतद्प्यनयोः श्रवणगोच-रत्वमेष्यतीति मत्वा उवाच प्रजापति:- अनुपलभ्य यथो-क्तलक्षणमात्मानम् अननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षं च अकृत्वा विप-रीतिनश्रयौ च भूत्वा इन्द्रविरोचनावेतौ व्रजतः गच्छेया-ताम । अतः यतरे देवा वा असुरा वा कि विशेषितेन, एतदु-पनिषद: आभ्यां या गृहीता आत्मविद्या सेयमुपनिपत् येषां देवानामसुराणां वा, त एतदुपनिषदः एवंविज्ञानाः एतन्नि-श्चयाः भविष्यन्तीत्यर्थः । ते किम १ पराभविष्यान्त श्रेयो-मार्गीत्पराभूता बहिर्भूता विनष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः । स्व-गृहं गच्छतोः सुरासुरराजयोः योऽसुरराजः, स ह शान्त-हृद्य एव सन् विरोचन: असुराञ्जगाम । गत्वा च तेभ्यो-ऽसुरेभ्यः शरीरात्मबुद्धिः योपनिषत् तामेतासुपनिषदं प्रोवा-च उक्तवान — देहमात्रमेव आत्मा पित्रोक्त इति । तस्मादा-त्मैव देह: इह लोके महय्य: पूजनीय:, तथा परिचर्य: परिचरणीय:, तथा आत्मानमेव इह लोके देहं महयन् परि-चरंश्च उभौ लोकौ अवाप्नोति इमंच अमुंच। इहलो-कपरलोकयोरेव सर्वे लोका: कामाश्च अन्तर्भवन्तीर्ति राज्ञो-ऽभिप्राय: ॥

तस्माद्प्यचेहाद्दानमश्रद्धानमयज-

मानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणा स्थेषोप-निषत्पेतस्य दारीरं भिक्षया वसनेनालं-कारेणेति स्रश्कुर्वन्त्येतेन स्मसुं लोकं जेष्यन्तो सन्यन्ते ॥ ५ ॥

इति अप्टमः खण्डः ॥

तस्मात् नत्मंप्रदायः अद्याप्यनुवर्ततं इति इह लोके अद्दानं दानमञ्ज्वीणम् अविभागशीलम् अश्रद्धधानं सत्कायेषु श्रद्धारहितं यथाशकत्ययजमानम् अयजनस्वभावम् आहुः
आसुरः खत्वयं यत एवंस्वभावः बत इति खिद्यमाना आहुः
शिष्टाः । असुराणां हि यस्मात् अश्रद्धधानतादिलक्षणेषोपनिषत् । तयोपनिपदा संस्कृताः सन्तः प्रेतस्य शरीरं कुणपं
भिश्चया गन्यमाल्याधादिलक्षणया वसनेन वस्त्रादिनाच्छादनादिप्रकारेण लेप रेण ध्वजपताकादिकरणेनेत्येवं संस्कृवेन्ति ।
एतेन कुणपनंस्कारण असुं प्रेत्य प्रतिपत्तव्यं लोकं जेष्यन्तो
मन्यन्ते ।।

रति अष्टमखण्ड**भाष्यम्** ॥



नवमः खण्डः॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं दद्शी
यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते
साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः
परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्थेऽन्धो भवति स्राप्ते स्नामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नइयति नाहमत भोग्यं पद्यामीति ॥ १॥

अथ ह किल इन्द्रः अप्राप्येव देवान दैन्या अक्रीर्यादि-संपदा युक्तत्वान गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन् एत-द्रक्ष्यमाणं भयं स्वात्मग्रहणानिमित्तं ददर्श दृष्टवान् । उदश-रावदृष्टान्तेन प्रजापितना यदर्थो न्याय उक्तः, तदेकदेशो मघवतः प्रत्यभान् बुद्धौ, येन च्छायत्मग्रहणे दोषं ददर्श । कथम् १ यथैव खळु अयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते छायात्मापि साध्वलंकृतो भवति, सुवसने च सुवसनः, परिष्कृते परि-ष्कृतः यथा नखलोमादिवेहावयवापगमे छायात्मापि परि-ष्कृतो भवति नखलोमादिवेहावयवापगमे छायात्मापि परि- त्मापि अस्मिञ्छरीरे नखलोमादिमिर्देहावयवत्वस्य तुल्य-त्वात् अन्धे चक्षुषोऽपगमे अन्धो भवति, स्नामे स्नामः । स्नामः किल एकनेत्रः तस्यान्धत्वेन गतत्वात् । चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा स्नवति स स्नामः । परिवृक्णः छिन्नहम्तः छिन्नपादो वा । स्नामे परिवृक्णे वा देहे छायात्मापि तथा भवति । तथा अस्य देहस्य नाशमनु एष नश्यति । अतः नाहमत्र अस्मिश्छायात्मदर्शने देहात्मदर्शने वा भोग्यं फलं पश्यामीति ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तक् ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृद्यः प्राव्राजीः सार्धे विरोचनेन किमिच्छन्पुन-रागमं इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलं-कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भव-ति स्रामे स्नामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्थे-व शरीरस्थ नाशमन्वेष नश्यति नाह्मत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २॥ एवं दोषं देहच्छायात्मद्र्शने अध्यवस्य स समित्पाणिः ब्रह्मचर्यं वस्तुं पुनरेयाय । तं ह प्रजापितरुवाच— मघवन् यत् शान्तहृद्यः प्राव्राजीः प्रगतवानिस विरोचनेन सार्धं किमिच्छन्पुनरागम इति । विजानन्नपि पुनः पप्रच्छ इन्द्रा-भिप्रायाभिव्यक्तये— 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ' इति यद्वत् । तथा च स्वाभिप्रायं प्रकटमकरोत्— यथैव खल्वयमित्यादि; एवमेवेति च अन्वमोदत प्रजापितः ॥

ननु तुल्येऽक्षिपुरुषश्रवणे, देहच्छायाम इन्द्रोऽप्रहीदात्मेति देहमेव तु विरोचनः, तिंकिनिमित्तम् शत्र मन्यते ।
यथा इन्द्रस्य उदशरावादिप्रजापितवचनं स्मरतो देवानप्राप्तस्यैव आचार्योक्तबुद्धया छायात्मप्रहणं तत्र दोषदर्शनं
च अभूत्, न तथा विरोचनस्य; किं तिर्हि, देहे एव आत्मदर्शनम्; नापि तत्र दोषदर्शनं बभूव । तद्वदेव विद्याप्तहणसामर्थ्यप्रतिबन्धदोषाल्पत्वबहुत्वापेक्षम् इन्द्रविरोचनयोइछायात्मदेहयोर्प्रहणम् । इन्द्रोऽल्पदोषत्वात् 'दृश्यते' इति
श्रुत्यर्थमेव श्रद्धानतया जमाह; इतरः छायानिमित्तं देहं हित्वा
श्रुत्यर्थ छक्षणया जमाह— प्रजापितनोक्तोऽयमिति, दोषभूयस्त्वात् । यथा किल नीलानीलयोरादर्शे दृश्यमानयोर्वाससोर्यन्नीलं तन्महाईमिति च्छायानिमित्तं वास एवोच्यते

8. U. Iv. 21

न च्छया—तद्वदिति विरोचनाभिप्रायः । स्वचित्तगुणदोष-वज्ञादेव हि शब्दार्थावधारणं तुस्येऽपि श्रवणे ख्यापितं 'दाम्यत दत्त दयध्वम्' इति दकारमात्रश्रवणाच्छुत्यन्तरे । निमित्तान्यपि तदनुगुणान्येव सहकारीणि भवन्ति ।।

एवमेवैष मघवित्ति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिश्तातं वर्षाणीति स हापराणि द्वा-त्रिश्तातं वर्षाण्युवास तसी होवाच ॥

इति नवमः खण्डः॥

एवमेवैष मघवन, सम्यक्त्वया अवगतम्, न च्छाया आत्मा- इत्युवाच प्रजापित:। यो मयोक्त आत्मा प्रकृतः, एतमेवात्मानं तु ते भूयः पूर्व व्याख्यातमपि अनुव्याख्यास्यामि। यस्मात्सकृद्धाख्यातं दोषरिहतानामवधारणिवषयं प्राप्तमिप नाप्रहीः, अतः केनिच होषेण प्रतिबद्धप्रहणसामर्थ्यस्वम्। अतस्तत्क्षपणाय वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि— इत्युक्त्वा तथोषितवते क्षिपतदोषाय तस्मै ह उवाच ॥

इति नवमखण्डभाष्यम्॥

दशमः खण्डः॥

य एष स्वमे महीयमानश्चरत्येष आतमेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्वह्मेति स
ह ज्ञान्तहृद्यः प्रववाज सं हाप्राप्यैव
देवानेतद्भयं दद्शे तद्यद्यपीद् ज्ञारीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्नाममस्नामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

य आत्मापहतपाप्मादिलक्षणः 'य एषोऽक्षिणि' इत्या-दिना व्याख्यात एष सः। कोऽसौ १ यः स्वप्ने महीयमानः स्व्यादिभिः पूज्यमानश्चरति अनेकविधानस्वप्नभोगाननुभवती-त्यर्थः। एष आत्मेति ह उवाच इत्यादि समानम्। स ह एवमुक्तः इन्द्रः शान्तहृद्यः प्रवन्नाज। स ह अप्राप्यैव देवान् पूर्ववदस्मिन्नप्यात्मिनि भयं दद्शे। कथम् १ तदिदं शरीरं यद्यप्यन्धं भवति, स्वप्नात्मा यः अनन्धः स भवति। यदि स्नामिदं शरीरम्, अस्नामश्च स भवति। नैवैष स्वप्नात्मा अस्य देह् ख दोषेण दुष्यति।। न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाम्येण स्नामो व्रन्ति त्वेवैनं विच्छाद्यन्तीवापि-यवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्न भो-ग्यं पठ्यामीति ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तथ् ह प्र-जापतिस्वाच मघवन्यच्छान्तहृद्यः प्रा-ब्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स हो-वाच तद्यद्यपीदं भगवः श्वरीरमन्धं भव-त्यनन्धः स भवति यदि स्नाममस्नामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३॥

न वधेनास हन्यते नास्य स्नाम्येण स्नामो व्रन्ति त्वेवैनं विच्छाद्यन्तीवावि-यवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमन्न भोग्यं पद्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति हो-वाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वान्ति स्वांणीति स

हापराणि द्वात्रिश्रातं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

इति दशमः खण्डः॥

नापि अस्य वधेन स हन्यते छायात्मवत् । न च अस्य स्नाम्येण स्नाम: स्वप्नात्मा भवति । यद्ध्यायादौ आगममा-त्रेणोपन्यस्तम्— 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' इत्यादि, तदिह न्यायेनोपपाद्यितुमुपन्यस्तम् । न तावद्यं छायात्मवद्देहदो-षयुक्त:, किं तु ब्रन्ति त्वेव एनम् । एव-शब्द: इवार्थे । ब्र-न्तीवैनं केचनेति द्रष्टव्यम्, न तु झन्त्येवेति, उत्तरेषु स-र्वेष्विवशब्ददर्शनात् । नास्य वधेन हन्यत इति विशेषणात् ब्रन्ति त्वेवेति चेन् , नैवम । प्रजापतिं प्रमाणीकुर्वतः अनृत-वादित्वापाद्नानुपपत्तेः । ' एतद्मृतम् ' इत्येतत्प्रजापतिवचनं कथं मृषा कुर्यादिन्द्र: तं प्रमाणीकुर्वन् । ननु च्छायापुरुषे प्र-जापतिनोक्ते 'अस्य शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ' इति दोष-मभ्यद्धात् , तथेहापि स्यात् । नैवम् । कस्मात् ? ' य एषोऽ-क्षिणि पुरुषो दृश्यते 'इति न च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते मघवान् । कथम्? अपहतपाप्मादिलक्षणे पृष्टे यदि च्छायातमा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते, तदा कथं प्रजापतिं प्र-माणीकृत्य पुनः श्रवणाय समित्पाणिर्गच्छेत् ? जगाम च ।

तस्मात् न च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते । तथा च व्याख्यातम-द्रष्टा अक्षिणि दृश्यत इति । तथा विच्छाद्यन्तीव विद्वावयन्तीव, तथा च पुत्रादिमरणनिमित्तमप्रियवेत्तेव भ-वति । अपि च स्वयमपि रोदितीव । नन् अप्रियं वेत्त्येव, कथं वेत्तेवेति, उच्यते—न, अमृताभयत्ववचनानुप-पत्ते:, 'ध्यायतीव' इति च श्रुत्यन्तरात् । ननु प्रत्यक्षवि-रोध इति चेत् , न, शरीरात्मत्वप्रत्यक्षवद्धान्तिसंभवात् । तिष्ठत तावदिशयवेत्तेव न वेति । नाहमत्र भोग्यं पदयामि । स्बप्नात्मज्ञानेऽपि इष्टं फलं नोपलभे इत्यभिप्रायः । एवमेवैषः तवाभिप्रायेणेति वाक्यशेष:, आत्मनोऽमताभयगुणवत्त्वस्था-भिवेतत्वातः । द्विरुक्तमपि न्यायतो मया यथावन्नावधारय-ति; तस्मात्पूर्ववत् अस्य अद्यापि प्रतिबन्धकारणमस्तीति मन्वानः तत्क्षपणाय वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्म-चर्यम् इत्यादिदेश प्रजापति: । तथा उषितवते क्षपित-कल्मषाय आह ॥

इति द्शमखण्डभाष्यम्॥



एकाद्दाः खण्डः॥

तचत्रैतत्सुसः समस्तः संप्रसन्नः स्वमं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतद्मृत-मभयमेतद्रह्मोति म ह ज्ञान्तहृद्यः प्रव-व्राज स हाप्राप्येव देवानेतद्भ्यं दद्शी नाह खल्वयमेव संप्रत्यात्मानं जाना-त्ययमहमस्मीति नो एवमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तक् ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृद्यः प्रा-व्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स हो-वाच नाह खल्वयं भगव एवक् संप्रत्या-त्मानं जानात्ययमहमसीति नो एवे-

मानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भाग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

पूर्ववदेतं त्वेव त इत्याद्युक्त्वा तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि व्याख्यातं वाक्यम् । अश्विणि यो द्रष्टा स्वप्ने च महीयमानश्चरित स एषः सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति,
एष आत्मेति ह उवाच एतद्मृतमभयमेतद्वह्वोति स्वाभिप्नेतमेव । मघवान तत्रापि दोषं ददर्श । कथम् १ नाह नैव
सुषुप्तस्थोऽप्यात्मा खल्वयं संप्रति सम्यिगदानीं च आत्मानं
जानाति नैवं जानाति । कथम् १ अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि चेति । यथा जाप्रति स्वप्ने वा । अतो
विनाशमेव विनाशमिवेति पूर्ववद्वष्ट्रव्यम् । अपीतः अपिगतो भवति, विनष्ट इव भवतीत्यभिप्रायः । ज्ञाने हि सित
ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते, न असित ज्ञाने । न च सुषुप्तस्य
ज्ञानं दृश्यते; अतो विनष्ट इवेत्यभिप्रायः । न तु विनाशमेव
आत्मनो मन्यते अमृताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन् ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यतैत-स्मादसापराणि पश्च वर्षाणीति स हाप- राणि पश्च वर्षाण्युवास तान्येकदात स् सं-पेदुरेतत्त्तचदाहुरेकदात स् ह वै वर्षाणि मघवान्यजापती ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३॥

इति एकाद्शः खण्डः ॥

पूर्ववदेवमेवत्युक्तवा आह—यो मया उक्तः त्रिभिः पर्यायैः तमेवतं नो एवान्यत्रैतस्मादात्मनः अन्यं कंचन, किं तिर्हे, एतमेव व्याख्यास्थामि । स्वल्पस्तु दोषस्तवाविष्ठष्टः, तत्क्षपणाय वस अपराणि अन्यानि पञ्च वर्षाणि— इत्युक्तः सः तथा चकार । तस्मै मृदितकषायादिदोषाय स्थानत्रयदोष्प्रंवन्धरिहतमात्मनः स्वरूपम् अपहतपाप्मत्वादिरुक्षणं मघन्वते तस्मै ह उवाच । तान्येकशतं वर्षाणि संपेदुः संपन्नानि वभूवुः । यदाहुर्लोके शिष्टाः— एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास इति । तदेतह्वात्रिंशतिमत्यादिना दिशतिमत्याख्यायिकातः अपसृत्य श्रुत्या उच्यते । एवं किल तदिनद्वत्वादिष गुरुतरम् इन्द्रेणापि महता यत्नेन एकोत्तरवर्षशत्रकतायासेन प्राप्तमात्मज्ञानम् । अतो नातः परं पुरुषार्थान्तरमस्तीत्यात्मज्ञानं स्तैति ॥

इति एकाद्दाखण्डभाष्यम्॥

द्वाद्शः खण्डः॥

मघवन्मर्स्थ वा इद् शरीरमात्तं मु-त्युना तदस्यामृतखाशरीरस्यात्मनोऽधि-ष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपह-तिरस्यशरीरं वाव सन्तृं न प्रियाप्रिये स्पृश्चतः ॥ १॥

मघवन् मर्त्य वै मरणधर्मीदं शरीरम् । यन्मन्यसं ऽक्ष्या-धारादिस्रक्षणः संप्रसाद्रुक्षण आत्मा मयोक्तो विनाशमे-वापीतो भवतीति, शृणु तत्र कारणम्— यदिदं शरीरं वै यत्पश्यसि तदेतत् मर्त्य विनाशि । तच आत्तं मृत्युना प्रस्तं सततमेव । कदाचिदेव म्रियत इति मर्त्यमि-त्युक्ते न तथा संत्रासो भवति, यथा प्रस्तमेव सदा व्याप्तमेव मृत्युनेत्युक्ते—इति वैराग्यार्थ विशेष इत्युच्यते— आत्तं मृत्युनेति । कथं नाम देहाभिमानतो विरक्तः सन् निवर्तत इति । शरीरमित्यत्र सहेन्द्रियमनोभिष्ठच्यते । तच्छ- रीरमख संप्रसादस्य त्रिस्थानतया गम्यमानम्य अमृतस्य मरणादिरेहोन्द्रियमनोधर्मवर्जितस्येत्येतनः अमृतस्येत्यनेनैव अशरीरत्वे सिद्धे पुनरशरीरस्येति वचनं वाय्वादिवत् साव-यवत्वमृर्तिमत्त्वे मा भूतामिति ; आत्मनो भोगाधिष्ठानम ; आत्मनो वा सत ईक्षितु: तेजोबन्नादिक्रमेण उत्पन्न-मधिष्ठानम् ; जीवरूपेण प्रविदय सदेवाधितिष्ठसस्मिन्निति वा अधिष्ठानम् । यस्येदमीहज्ञां नित्यमेव मृत्युप्रस्तं धर्मा-धर्मजनितत्वात्प्रियाप्रियवद्धिष्ठानम् , तद्धिष्ठितः तद्वान् सशरीरो भवति । अशरीरस्वभावस्य आत्मन: तदेवाहं शरीरं शरीरमेव च अहम् — इत्यविवेकादात्मभाव: सशरीर-त्वम् ; अत एव सशरीरः सन आत्तः प्रस्तः प्रियाप्रिया-भ्याम् । प्रसिद्धमेतत् । तस्य च न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्यविषयसंयोगवियोगितिमित्तयोः बाह्यविष-यसंयोगिवयोगौ ममेति मन्यमानस्य अपहतिः विनाशः उच्छेदः संततिरूपयोर्नास्तीति । तं पूनर्देहाभिमानाद्शरीरस्व-रूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये न स्प्रज्ञात: । स्प्रज्ञि: प्रत्येकं संबध्यत इति प्रियं न स्प्रज्ञाति अप्रियं न स्प्रातीति वाक्यद्वयं भवति । 'न म्लेच्छाशुच्य-धार्मिकै: सह संभाषेत 'इति यद्भत्। धर्माधर्मकार्ये हि ते;

अशरीरता तु स्वरूपिमिति तत्र धर्माधर्मयोरसंभवात तत्का-यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

ननु यदि प्रियमप्यशरीरं न स्पृशतीति, यन्मघवतोक्तं सुष्तस्थो विनाशमेवापीतो भवतीति, तदेवेहाप्यापत्रम् । प्रिययो: प्रतिषेधस्य विवक्षितत्वात् — अशरीरं न प्रिया-प्रिये स्पृश्वत इति । आगमापायिनोर्हि स्पर्शशब्दो दृष्टः-यथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्श इति, न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयो: स्वभावभूतयोरग्निना स्पर्शे इति भवति ; तथा अग्ने: स-वितुर्वा उष्णप्रकाशवन् स्वरूपभूतस्य आनन्दस्य प्रियस्यापि नेह प्रतिषेध:, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्या-दिश्रुतिभ्यः । इहापि भूमैव सुखिमत्युक्तत्वात् । ननु भूम्नः प्रि-यख एकत्वे असंवेद्यत्वात् स्वरूपेणैव वा नित्यसंवेद्यत्वात् नि-र्विशेषतेति न इन्द्रस्य तदिष्टम् , 'नाह खल्वयं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पदयामि 'इत्युक्तत्वान् । ताद्धि इन्द्रस्येष्ट-म्-यद्भुतानि च आत्मानं च जानाति, न च अप्रियं किंचि-द्वेति, स सर्वीश्च लोकानाप्रोति सर्वीश्च कामान येन ज्ञानेन। सत्यमेतिदृष्टमिन्द्रस्य- इमानि भूतानि मत्तोऽन्यानि, लोकाः

कामाश्च मर्वे मत्तो अन्ये, अहमेषां स्वामीति। न त्वेतदिनद्र-स्य हितम् । हितं च इन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम् । व्यो-मवद्शरीरात्मतया सर्वभूतलोककामात्मत्वोपगमेन या प्रा-प्ति:, तद्धितमिनद्राय वक्तव्यमिति प्रजापतिना अभिप्रेतम । न तु राज्ञो राज्याप्तिवदन्यत्वेन । तत्रैवं सति कं केन विजानीयादात्मैकत्वे इमानि भूतान्ययमहमस्मीति । नन्वस्मिन्पक्षे 'स्त्रीभिर्वा यानैर्वां' 'स यदि पितृलोक-कामः ' 'स एकधा भवति ' इलाचैश्वर्यश्रुतयोऽनुपपन्नाः; न, सर्वात्मनः सर्वफलसंबन्धोपपत्तरिवरोधात्— मृद इव सर्वघटकरककुण्डाद्याप्तिः । नतु सर्वात्मत्वे दु:खसंबन्धोऽपि म्यादिति चेत्, न, दु:खस्याप्यात्मत्वोपगमाद्विरोध:। आ-त्मन्यविद्याकरुपनानिमित्तानि दु:खानि— रज्ज्वामिव सर्पा-दिकल्पनानिमित्तानि । सा च अविद्या अशरीरात्मैकत्वस्वरू-पद्रीनेन दु:खनिमित्ता उच्छिन्नेति दु:खसंबन्धाशङ्का न सं-भवति । शुद्धसत्त्वसंकल्पनिमित्तानां तु कामानाम् ईश्वरदेह-संबन्धः सर्वभूतेषु मानसानाम् । पर एव सर्वसत्त्वोपाधि-द्वारेण भोक्तेति सर्वाविद्याकृतसंव्यवहाराणां पर एव आत्मा आस्पदं नान्योऽस्तीति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' इति च्छायापुरुष एव

प्रजापतिना उक्त:, स्वप्रसुषुप्रयोश्च अन्य एव, न परो-ऽपहतपाप्मत्वादिरुक्षणः, विरोधान् इति केचिन्मन्यन्ते। छा-याद्यात्मनां च उपदेशे प्रयोजनमाचक्षते । आदावेव उच्य-माने किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्य आत्मनः अत्यन्तवाह्यविषया-सक्तचेतसः अत्यन्तसृक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो मा भूदिति । यथा किल द्वितीयायां सूक्ष्मं चन्द्रं दिदर्शयिषुः वृक्षं कंचि-त्प्रत्यक्षमादौ दर्शयति -- पत्र्य अमुमेष चन्द्र इति, ततोऽन्यं ततोऽत्यन्यं गिरिमूर्धानं च चन्द्रसमीपस्थम्- एष चन्द्र इति, ततोऽसौ चन्द्रं पत्रयति, एवमेतत् 'य एषोऽक्षिणि ' इत्याद्युक्तं प्रजापतिना त्रिभि: पर्यायै:, न पर इति । चतुर्थे तु पर्याये देहा- . न्मर्त्यात्समुत्थाय अशरीरतामापन्नो ज्योति:स्वरूपम्। यस्मि-. त्रुत्तमपुरुषे स्त्र्यादिभिर्जक्षत्क्रीडन्नममाणो भवति, स उत्तमः पुरुष: पर उक्त इति च आहु:। सत्यम्, रमणीया तावदियं व्याख्या श्रोतुम्। न तु अर्थोऽस्य प्रन्थस्य एवं संभव-ति। कथम् ? 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते ' इत्युपन्यस्य शिष्या-भ्यां छायात्मनि गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा तदपन-याय उद्शरावोपन्यासः 'किं पश्यथः' इति च प्रश्नः साध्व-लंकारोपदेशश्च अनर्थक: स्यात्, यदि 'छायात्मैव प्रजाप-तिना 'अक्षिणि दृरयते ' इत्युपदिष्टः । किंच यदि स्वयमुप-

दिष्ट इति प्रहणस्याप्यपनयनकारणं वक्तव्यं स्यात् । स्वप्न-सुषुप्तात्मग्रहणयोरपि तदपनयकारणं च स्वयं ब्र्यात् । न च उक्तम्। तेन मन्यामहे न अक्षिणि च्छायात्मा प्रजापतिना उपदिष्ट:। किं चान्यत्, अक्षिणि द्रष्टा चेत् ' हइयते ' इत्युपदिष्टः स्यात् , तत इदं युक्तम । ' एतं त्वेव ते ' इत्युक्त्वा स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवोपदेशः । स्वप्ने न द्रष्टोपदिष्ट इति चेत्, न, अपि रोदितीव ' अप्रियवेत्तेव ' इत्युपदे-शात् । न च द्रष्टुरन्य: कश्चित्स्वप्ने महीयमानश्चरति । 'अत्रायं पुरुष: स्वयंज्योति: 'इति न्यायतः श्रुत्यन्तरे सि-द्धत्वात् । यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति, तथापि न घीः स्वप्नभोगोपल्रिंघ प्रति करणत्वं भजने । किं तर्हि, पटचित्रवृज्जाप्रद्वासनाश्रया दृइयैव धीर्भवतीति न द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वबाधः स्यात् । किंचान्यत्, जाप्रतस्वप्रयोर्भू-तानि च आत्मानं च जानाति— इमानि भूतान्ययमह-मस्मीति । प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधो युक्तः स्यात्—नाह खल्ब-यमित्यादि । तथा चेतनस्यैव अविद्यानिमित्तयो: सश्ररी-रत्वे सति प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीत्युक्त्वा तस्यैवाज्ञरी-रस्य सतो विद्यायां सत्यां सज्ञरीरत्वे प्राप्तयोः प्रतिषेधो युक्तः 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति ।

एकश्चात्मा स्वप्नबुद्धान्तयोर्भहामत्स्यवदसङ्गः संचरतीति श्रु-त्यन्तरे सिद्धम् । यद्योक्तं संप्रसादः शरीरात्समुत्थाय य-स्मिन्न्त्रयादिभिः रममाणो भवति सोऽन्यः संप्रसादाद्धि-करणनिर्दिष्ट उत्तम: पुरुष इति, तद्प्यसत्। चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते ' इति वचनात् । यदि ततोऽन्योऽभि-प्रेत: स्यान , पूर्ववन् 'एतं त्वेव ते' इति न ब्रूयान्मृषा प्रजा-पति: । किंचान्यत्, तेजोबन्नादीनां स्रष्टुः सतः म्वविका-रदेह्शुङ्गे प्रवेशं दर्शयित्वा प्रविष्टाय पुन: तत्त्वमसीत्युप-देश: मृषा प्रमच्येत । तस्मिन्त्वं स्ट्यादिभि: रन्ता भवि-ष्यसीति युक्त उपदेशोऽभविष्यत् यदि संप्रसादादन्य उत्तमः पुरुषो भवेत् । तथा भूमि 'अहमेव' इत्यादिइय 'आत्मैवेदं सर्वम् 'इति नोपसमहरिष्यत्, यदि भूमा जीवादन्योऽभवि-ष्यत्, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्यन्तराच । सर्व-श्रुतिषु च परस्मिन्नात्मशब्दप्रयोगो नाभविष्यत् प्रत्यगात्मा चेत्सर्वजनतुनां पर आत्मा न भवेत् । तस्मादेक एव आत्मा प्रकरणी सिद्धः ॥

न च आत्मनः संसारित्वम्, अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि संसारस्य। न हि रज्जुशुक्तिकागगनादिषु सर्परजतमलादीनि मिथ्याज्ञानाध्यस्तानि तेषां भवन्तीति । एतेन सञ्चरीरस्य वियाप्रिययोरपहतिनीस्तीति व्याख्यातम् । यत्र म्थित-मप्रियवेत्तेवेति नाप्रियवेत्तैवेति सिद्धम् । एवं च सति सर्वे-पर्यायेषु ' एतदमृतमभयमेतद्भृद्धा ' इति प्रजापतेर्वचनम् , यदि वा प्रजापतिच्छद्मरूपायाः श्रुतेर्वचनम् , सत्यमेव भवेत् । न च तत्कुतर्कबुद्धया मृषा कर्तुं युक्तम, ततो गुरुतरस्य प्रमा-णान्तरस्यानुपपत्तेः । ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृत्वमन्यभि-चार्यनुभूयत इति चेत् , न, जरादिरहितो जीणोंऽहं जातो-ऽहमायुष्मानगौर: कृष्णो मृत:-इत्यादिप्रत्यक्षानुभववत्तदुपप-त्ते:। सर्वमण्येतत्सत्यमिति चेत्, अस्त्येवैतदेवं दुरवगमम्, येन देवराजोऽप्युदशरावादिदर्शिताविनाशयुक्तिरपि सुमोहैवात्र ' विनाशमेवापीतो भवति ' इति । तथा विरोचनो महाप्राज्ञः प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो बभूव। तथा इन्द्रस्य आत्म-विनाशभयसागरे एव वैनाशिका न्यमज्जन् । तथा सांख्या द्रष्टारं देहादिव्यतिरिक्तमवगम्यापि त्यक्तागमप्रमाणत्वान् मृ-त्युविषये एव अन्यत्वदर्शने तम्थु:। तथा अन्ये काणादा-दिदर्शनाः कषायरक्तमिव क्षारादिभिर्वस्त्रं नवभिरात्मगुणै-र्युक्तमात्मद्रव्यं विशोधयितुं प्रवृत्ताः । तथा अन्ये कर्मिणो बाह्यविषयापद्वतचेतसं: वेदप्रमाणा अपि परमार्थसत्यमात्मै-कत्वं सविनाशमिव इन्द्रवन्मन्यमाना घटीयन्त्रवत् आरोहाव-

खि.

रोहप्रकारैरनिशं बम्भ्रमन्ति: किमन्ये क्षद्रजन्तवो विवेक-हीनाः स्वभावत एव बहिर्विषयापहृतचेतसः। तस्मादिदं त्यक्तसर्वबाह्येषणै: अनन्यशरणै: परमहंसपरित्राजकै: अत्या-श्रमिभिर्वेदान्तविज्ञानपरैरेव वेदनीयं पूज्यतमै: प्राजापत्यं च इमं संप्रदायमनुसरिद्धः उपनिबद्धं प्रकरणचतुष्टयेन । तथा अनुशासति अद्यापि 'त एव नान्ये ' इति ॥

अदारीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनियत्तुर-शरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाका-शात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २॥

तत्र अशरीरस्य संप्रसादस्य अविद्यया शरीरेणाविशेषतां सशरीरतामेव संप्राप्तस्य शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेण यथा अभिनिष्पत्ति:, तथा वक्तव्येति दृष्टान्त उच्यते— अज्ञारी-रो वाय: अविद्यमानं शिर:पाण्यादिमच्छरीरमस्येत्यश्रीर: । किं च अभ्रं विद्युत्स्तनियत्नुरिस्रेतानि च अशरीराणि । तत् तत्रैवं सति वर्षादिप्रयोजनावसाने यथा, अमुष्मादिति भूमिष्ठा श्रुति: गुलोकसंबन्धिनमाकाशदेशं व्यपदिशति, ए-तानि यथोक्तान्याकाशसमानरूपतामापन्नानि स्वेन वाय्वादि-क्रपेणागुद्धमाणानि आकाशाख्यतां गतानि- यथा संप्रसादः

अविद्यावस्थायां शरीरात्मभावमेव आपन्नः, तानि च तथाभूतान्यमुष्मात् चुलोकसंबन्धिन आकाशदेशात्समुत्तिष्ठन्ति
वर्षणादिप्रयोजनाभिनिर्वृत्तये । कथम् १ शिशिरापाये सावित्रं
परं ज्योतिः प्रकृष्टं प्रैष्मकमुपसंपद्य सावित्रमभितापं प्राप्येत्यर्थः । आदित्याभितापेन पृथर्गमावमापादिताः सन्तः स्वेन
स्वेन रूपेण पुरोवातादिवायुरूपेण स्तिमितभावं हित्वा अभ्रमिप भूमिपर्वतहस्त्यादिरूपेण विद्युद्धि स्वेन ज्योतिर्लतादेचपल्ररूपेण स्तनियन्नुरिप स्वेन गर्जिताश्चिरूपेणेत्येवं प्रावृद्धागमे स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समु-त्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य खेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तन्न पयेति जक्षत्त्रीडन्नममाणः स्त्रीभिर्यो यानैर्या ज्ञातिभिर्या नोपजन समरनिद्ध् श्रारीर स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

यथा अयं दृष्टान्तो वाय्वादीनामाकाशादिसाम्यगमनवद्-विद्यया संसारावस्थायां शरीरसाम्यमापत्रः अहमसुष्य पुत्रो

जातो जीणों मरिष्ये-इत्येवंप्रकारं प्रजापतिनेव मघवान यथो-केन क्रमेण नासि त्वं देहेन्द्रियादिधर्मा तत्त्वमसीति प्रति-बोधितः सन स एष संप्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरादाकाशा-दिव वाय्वाद्यः समुत्थाय देहादिविलक्षणमात्मनो रूपम-वगम्य देहात्मभावनां हित्वेंत्येतत् , म्वेन रूपेण मदात्मनै-वाभिनिष्पद्यत इति व्याख्यातं पुरस्तात् । स येन स्वेन रूपेण संप्रसादोऽभिनिष्पद्यते—प्राक्प्रतिबोधात् तद्धान्तिन-मित्तात्सर्पो भवति यथा रज्जु:, पश्चात्कृतप्रकाशा रज्ज्वात्म-ना स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एवं च स उत्तमपुरुष: उत्तम-आसौ पुरुषश्चेत्युत्तमपुरुषः स एव उत्तमपुरुषः। अक्षिस्वप्नपु-रुषौ व्यक्तौ अव्यक्तश्च सुषुप्तः समस्तः संप्रसन्नः अशरीरश्च स्वेन रूपेणेति। एषामेव स्वेन रूपेणावस्थितः क्षराक्षरी व्याक-ताव्याकृतावपेक्ष्य उत्तमपुरुष: ; कृतनिर्वचनो हि अयं गीतासु । सः संप्रसादः स्वेन रूपेण तत्र स्वात्मिन खस्थतया सर्वात्मभूतः पर्येति कचिदिन्द्राद्यात्मना जक्षत् हसन् भक्षयन् वा भक्ष्यान् उचावचान ईप्सितान कचिन्मनोमात्नै: संकल्पादेव समुत्थितै-त्रीह्मलौकिकैवी क्रीडन् म्ड्यादिभिः रममाणश्च मनसैव, नो-पजनम् , स्त्रीपुंसयोरन्योन्योपगमेन जायत इत्युपजनम् आ-त्मभावेन वा आत्मसामीप्येन जायत इत्युपजनमिदं शरीरम् ,

तन्न स्मरन् । तत्स्मरणे हि दु:खमेव स्यात्, दु:खात्मकत्वात् तस्य । नन्वनुभूतं चेत् न स्मरेत् असर्वज्ञत्वं मुक्तस्य; नैष दोष: । येन मिथ्याज्ञानादिना जनितम् तच्च मिथ्याज्ञानादि विद्यया उच्छोदितम्, अतस्तन्नानुभूतमेवेति न तदस्मरणे सर्व- ज्ञत्वहानि:। न हि उन्मत्तेन प्रहर्ण्हेतिन वा यदनुभूतं तदुन्मा- दाद्यपगमेऽपि स्मर्तव्यं स्यात्; तथेहापि संसारिभिरविद्या- दोषवद्भः यदनुभूयते तत्सर्वात्मानमशरीरं न स्पृश्लाति, अवि- द्यानिमित्ताभावान् । य तु उच्छिन्नदोषेमृदितकषायैः मानसाः सत्याः कामा अनृतापिधाना अनुभूयन्ते विद्याभिव्यङ्गय- त्वात्, त एव मुक्तेन सर्वात्मभूतेन संबध्यन्त इति आत्मज्ञान- स्तुतये निर्दिश्यन्ते; अतः साध्वेतद्विशिनष्टि— 'य एते ब्रह्म- लोके विद्याभिव्यङ्गय- त्वात् । यत्र क्वचन भवन्तोऽपि ब्रह्मण्येव हि ते लोके भवन्तीति सर्वात्मत्वाद्वह्मण उच्यन्ते ॥

ननु कथमेक: सन् नान्यत्पदयित नान्यच्छूणोति नान्यद्विजानाति स भूमा कामांश्च ब्राह्मछौकिकान्पदयत्रमते इति च विरुद्धम्, यथा एको यस्मिन्नेव क्षणे पदयित स तस्मिन्नेव क्षणे न पदयित च इति । नैष दोष:, श्रुद्धन्तरे परिहृतत्वात् । द्रष्टुर्दृष्टेरविपरिछोपात्पदयन्नेव भवति; द्रष्टुर्द्यद्वेन कामानामभावान्न पदयित च इति । यद्यपि

सुषुप्ते तदुक्तम्, मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात्समानो द्वितीयाभाव:। 'केन कं पदयेत्' इति च उक्तमेव । अद्यरीरस्वरूपोऽपहतपा-प्मादिलक्षण: सन् कथमेष पुरुषोऽक्षिणि हद्रयत इत्युक्त: प्रजापतिना? तत्र यथा असावक्षिणि साक्षादृइयते तद्वक्त-व्यमितीदमारभ्यते। तत्र को हेतुरक्षिणि दर्शने इति, आह— स दृष्टान्तः यथा प्रयोग्यः, प्रयोग्यपरो वा स-ज्ञब्दः, प्रयु-ज्यत इति प्रयोग:, अश्वो बलीवर्दी वा यथा लोके आच-रत्यनेनेत्याचरण: रथ: अनो वा तस्मिन्नाचरणे युक्त: तदा-कर्षणाय, एवमस्मिञ्छरीरे रथस्थानीये प्राण: पञ्चवृत्तिरि-न्द्रियमनोबुद्धिसंयुक्तः प्रज्ञात्मा विज्ञानिकयाशक्तिद्वयसंमुर्छि-तात्मा युक्तः स्वकर्मफलोपभोगनिमित्तं नियुक्तः, 'कस्मिन्न्व-हमुत्कान्ते उत्कान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रति-ष्ठास्यामीति ' ईश्वरेण राज्ञेव सर्वाधिकारी दर्शनश्रवणचे-ष्ट्राव्यापारेऽधिकृत: । तस्यैव तु मात्रा एकदेशश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धिद्वारभूतम् ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिद्याणीति स आत्मा गन्धाय द्या-णमथ यो वेदेदमभिन्याहराणीति स

आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेद् श्रृणवानीति स आत्मा अवणाय श्रो-त्रम् ॥ ४॥

अथ यत्र कृष्णतारोपलक्षितम् आकाशं देहच्छिद्रम् अनुविषण्णम् अनुषक्तम् अनुगतम्, तत्र स प्रकृतः अशरीर आत्मा चाक्षुषः चक्षुषि भव इति चाक्षुषः तस्य दर्शनाय रू-पोपलब्धये चक्षुः करणम् ; यस्य तत् देहादिभिः संहतत्वात् परम्य द्रष्टुरर्थे, सोऽत्र चक्षुषि दर्शनेन छिङ्गेन दृश्यते परः अशरीरोऽसंहत:। 'अक्षिणि हदयते 'इति प्रजापतिनोक्तं स-र्वेन्द्रियद्वारोपलक्षणार्थम् ; सर्वविषयोपलब्धा हि स एवेति । स्फुटोपलब्धिहेतुत्वात्तु 'अक्षिणि' इति विशेषवचनं सर्वश्रुतिषु। ' अहमदर्शमिति तत्सत्यं भवति ' इति च श्रुते:। अथापि योऽ-स्मिन्देहे वेद; कथम्? इदं सुगन्धि दुर्गान्ध वा जिघाणीति अस्य गन्धं विजानीयामिति, स आत्मा, तस्य गन्धाय गन्ध-विज्ञानाय घाणम् । अथ यो वेद् इदं वचनम् अभिव्याह-राणीति वदिष्यमीति, स आत्मा, अभिन्याहरणक्रियासिद्धये करणं वागिन्द्रियम् । अथ यो वेद- इदं श्रुणवानीति, स आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम् ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दै-वेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पइयन्नमते य एते ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अथ यो वेद- इदं मन्वानीति मननव्यापारमिन्द्रियासं-स्प्रष्टं केवलं मन्वानीति वेद, स आत्मा, मननाय मन: । यो वंद स आत्मेत्येवं सर्वत्र प्रयोगात् वंदनमस्य स्वरूपिम-त्यवगम्यते — यथा यः पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यः, यो दक्षिणतः यः पश्चात् उत्तरतो य ऊर्ध्व प्रकाशयति स आदित्य:- इत्युक्ते प्रकाशस्वरूपः स इति गम्यते। दर्शनादि-क्रियानिर्वृत्त्यर्थानि तु चक्षुरादिकरणानि । इदं च अस्य आत्मन: सामर्थ्यादवगम्यते— आत्मन: सत्तामात्र एव ज्ञानकर्तृत्वम् , न तु व्यापृततया— यथा सवितु: सत्ता-मात्र एव प्रकाशनकर्तृत्वम् , न तु व्यापृततयेति – तद्भत् । मनोऽस्य आत्मनो दैवमप्राकृतम् इतरेन्द्रियैरसाधारणं चक्षुः चष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षः । वर्तमानकालविषयाणि च इन्द्रि-याणि अतो अदैवानि तानि । मनस्तु त्रिकालविषयोपल-ब्धिकरणं मृदितदोषं च सक्ष्मव्यवहितादिसर्वोपल्डिधकरणं च इति दैवं चक्षुरुच्यते । स वै मुक्तः स्वरूपापन्नः अवि-

याकृतदेहेन्द्रियमनोवियुक्तः सर्वात्मभावमापन्नः सन् एष व्योमविद्यगुद्धः सर्वेश्वरो मनडपाधिः सन् एतेनैवेश्वरेण मनसा एतान्कामान सवितृप्रकाशवत् नित्यप्रततेन दर्शनेन पत्रयन् रमते । कान्कामानिति विशिनष्टि— य एते ब्रह्म-णि छोके हिरण्यनिधिवत् बाह्यविषयासङ्गानृतेनापिहिताः संकल्पमाबरुभ्याः तानित्यर्थः ॥

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते त-सात्तेषा समर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वा स्थ्र लोकानामोति सर्वा स् श्र कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजाना-तीति इ प्रजापतिकवाच प्रजापतिकवाच ॥

इति द्वादश्वः खण्डः॥

यस्मादेष इन्द्राय प्रजापितनोक्त आत्मा, तस्मात् ततः श्रुत्वा तमात्मानमद्यत्वेऽपि देवा उपासते । तदुपासनाच तेषां सर्वे च लोका आत्ताः प्राप्ताः सर्वे च कामाः । यद्थी हि इन्द्रः एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास, तत्फलं प्राप्तं देवैरित्यभिप्रायः । तद्युक्तं देवानां महाभाग्यत्वात्, न त्विदानीं मनुष्याणामस्पजीवितत्वान्मन्दत्रप्र-

ज्ञत्वाच संभवतीति प्राप्ते, इद्मुच्यते—स सर्वीश्च छोका-नाप्नोति सर्वीश्च कामान् इदानींतनोऽपि । कोऽसौ ? इन्द्रा-दिवत् यः तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह सामान्येन किल प्रजापतिक्वाच । अतः सर्वेषामात्मज्ञानं तत्फलप्रा-प्तिश्च तुल्यैव भवतीत्यर्थ:। द्विवचनं प्रकरणसमाध्यर्थम्।।

इति द्वादशखण्डभाष्यम्॥



त्रयोदशः खण्डः॥

इयामाच्छवलं प्रपचे शवलाच्छ्यामं प्रपचेऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोम्रेखात्प्रमुच्य घूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभि-संभवामीति॥१॥

इति तयोद्शः खण्डः ॥

रयामात् शबलं प्रपद्ये इत्यादिमन्त्राम्नायः पावनः जपार्थश्च ध्यानार्थो वा । रयामः गम्भीरो वर्णः रयाम इव
रयामः हार्दे ब्रह्म अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात् तत् हार्दे ब्रह्म
ज्ञात्वा ध्यानेन तस्माच्छयामान् शबलं शबल इव शबलः
अरण्याद्यनेककाममिश्रत्वाद्वह्मलोकस्य शाबल्यं तं ब्रह्मलोकं
शबलं प्रपद्ये मनसा शरीरपाताद्वा ऊर्ध्व गच्छेयम् । यस्मादहं शबलाद्वह्मलोकात् नामरूपव्याकरणाय रयामं प्रपद्ये
हार्दभावं प्रपन्नोऽस्मीत्यभिष्रायः । अतः तमेव प्रकृतिस्वरूपमात्मानं शबलं प्रपद्य इत्यर्थः । कथं शबलं ब्रह्मलोकं

प्रपद्ये इति, उच्यते—अश्व इव स्वानि लोमानि विधूय
कम्पनेन श्रमं पांस्वादि च रोमतः अपनीय यथा निर्मलो
भवति, एवं हार्दश्रह्मज्ञानेन विधूय पापं धर्माधर्माख्यं चन्द्र
इव च राहुमस्तः तस्माद्राहोर्भुखात्त्रमुच्य भास्वरो भवति
यथा—एवं धूत्वा प्रहाय शरीरं सर्वानर्थाश्रयम् इहैव ध्यानेन
कृतात्मा कृतकृतः सन् अकृतं नित्यं ब्रह्मलोकम् अभिसंभवामीति । द्विवंचनं मन्त्रसमाह्यर्थम् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥



चतुर्दशः खण्डः॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निवीहिता ते यदन्तरा तहुह्य तदमृत एस आत्मा प्रजापतेः सभां वेइम प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राजां यशो विशां यशोऽहमनुपापितस स हाहं यश-सां यदाः इयेतमदत्कमदत्कः इयेतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥ १ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वा इत्यादि ब्रह्मणो लक्षणनिर्देशार्थम् आध्या-नाय। आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा। आकाश इव अशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच । स च आकाशः नामरूपयोः स्वासस्ययोर्जगद्वीजभूतयोः सिछिछस्येव फेनस्थानीययोः नि-वीहिता निर्वोढा व्याकर्ता । ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्र-ह्मणो अन्तरा मध्ये वर्तेते, तयोर्वा नामरूपयोरन्तरा मध्ये यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत् , तद्भद्धा नामरूपविलक्षणं नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयोनिर्वोद् एवंस्रक्षणं ब्रह्मेत्यर्थ:। इद्मेव मैत्रेयीब्राह्मणेनोक्तम् ; चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्खरू-पतेवेति गम्यते एकवाक्यता । कथं तदवगम्यत इति, आह - स आत्मा । आत्मा हि नाम सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धः तेनैव स्वरूपेणोत्रीय अशारीरो व्योमवत्स-र्वगत आत्मा ब्रह्मेत्यवगन्तवयम । तच आत्मा ब्रह्म अमृतम अमरणधर्मा । अत ऊर्ध्व मन्त्रः । प्रजापतिः चतुर्मुखः तस्य सभां वेदम प्रभुविभितं वेदम प्रपद्ये गच्छेयम् । किंच यशोऽहं यशो नाम आत्मा अहं भवामि ब्राह्मणानाम् । ब्रा-ह्मणा एव हि विशेषतस्तमुपासते ततस्तेषां यशा भवामि । तथा राज्ञां विशां च । तेऽप्यधिकृता एवेति तेषामप्यात्मा भवामि । तद्यशोऽहमनुप्रापत्सि अनुप्राप्तमिच्छामि । स ह अहं यशसामात्मनां देहेन्द्रियमनोबुद्धिलक्षणानामात्मा । किमर्थमहमेवं प्रपद्य इति, उच्यते— इयेतं वर्णत: पक्र-बदरसमं रोहितम् । तथा अद्दकं दन्तरहितमप्यद्दकं भक्ष-यितृ स्त्रीव्य जनं तत्सेविनां तेजोबळवीर्यविज्ञानधर्माणाम् अप-हन्तु विनाशयित्रित्येतत् । यदेवंलक्षणं इयेतं लिन्दु पिच्छलं तन्मा अभिगां मा अभिगच्छेयम् । द्विर्वचनमयन्तानर्थहे-तुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पश्चद्शः खण्डः॥

तद्वैतद्वश्चा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाहेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुदुम्बे शुचौ देशे खाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विद्धदात्मनि
सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहि सम्मर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च
पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इति पश्चदशः खण्डः ॥

तद्धैतत् आत्मज्ञानं मोपकरणम् 'ओमिल्येतदक्षरम्' इत्याचैः सहोपासनैः तद्वाचकेन प्रन्थेन अष्टाध्यायीलक्षणेन सह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्वारेण प्रजापतये कर्यपाय उवाच ; असाविप मनवे खपुत्राय ; मनुः प्रजाभ्यः इत्येवं श्रुत्यर्थसंप्रदायपरम्पर्यागतम् उपनिषद्विज्ञानम् अद्यापि विद्वत्सु अवगम्यते । यथेह षष्टाद्यध्यायत्रये प्रकाशिता आत्मविद्या सफला अवगम्यते, तथा कर्मणां न क

श्चनार्थ इति प्राप्ते, तदानर्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्षया इदं कर्मणो विद्वद्भिरनुष्ठीयमानस्य विशिष्टफलवत्त्वेन अर्थवत्त्वमुच्यते— आचार्यकुळाद्वेदमधीत्य सहार्थतः अध्ययनं कृत्वा यथाविधानं यथास्मृत्युक्तैर्नियमैर्युक्तः सन् इत्यर्थः। सर्वस्यापि विधेः स्मृत्युक्तस्य उपकुर्वाणकं प्रति कर्तव्यत्वे गुरुशुश्रुषायाः प्राधा-न्यप्रदर्शनार्थमाह - गुरो: कर्म यत्कर्तव्यं तत्कृत्वा कर्मशू-न्यो योऽतिशिष्टः कालः तेन कालेन वेदमधीत्येत्यर्थः । एवं हि नियमवता अधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्राप्तये भवति, ना-न्यथेसभिप्राय: । अभिसमावृत्य धर्मजिज्ञासां समापयि-त्वा गुरुकुछान्निवृत्य न्यायतो दारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा गाईस्थ्ये विहिते कर्मणि तिष्ठन् इत्यर्थः । तत्रापि गाईस्थ्य-विहितानां कर्मणां स्वाध्यायख प्राधान्यप्रदर्शनार्थमुच्यते— शुचौ विविक्ते अमेध्यादिरहिते देशे यथावदासीन: स्वाध्याय-मधीयान: नैयकमधिकं च यथाशक्ति ऋगाद्यभ्यासं च कुर्वन धार्मिकान्पुत्राञ्ज्ञिष्यांश्च धर्मयुक्तान्विद्धत् धार्मिक-त्वेन तान्नियमयन आत्मिन स्वहृद्ये हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रि-याणि संप्रतिष्ठाप्य उपसंहत्य इन्द्रियमहणात्कर्माणि च संन्यख अहिंसन् हिंसां परपीडामकुर्वन् मर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि भूतान्यपीडयन इत्यर्थः । भिक्षानिमित्तमटनादिनापि पर-

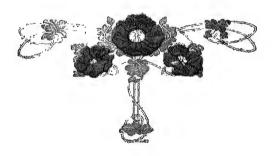
पीखा स्यादिखत आह — अन्यत्न तीर्थेभ्यः । तीर्थ नाम शा-स्नानुज्ञाविषयः, ततोऽन्यत्रेत्यर्थः । सर्वाश्रमिणां च एतत्समा-नम् । तीर्थेभ्योऽन्यत्र आहंसैवेत्यन्ये वर्णयन्ति । कुटुम्बे एवै-तत्सर्व कुर्वन् , स खल्विधकृतः, यावदायुषं यावज्ञीवम् एवं यथोक्तेन प्रकारेणैव वर्तयन् ब्रह्मलोकमिसंपद्यते देहान्ते । न च पुनरावर्तते शरीरप्रहणाय, पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रति-षेधात् । अचिरादिना मागेण कार्यब्रह्मलोकमिसंपद्य याव-द्वह्मलोकस्थितिः तावक्तत्रैव तिष्ठति प्राक्ततो नावर्तत इत्यर्थः । द्विरभ्यासः उपनिषद्विद्यापरिसमार्थः ॥

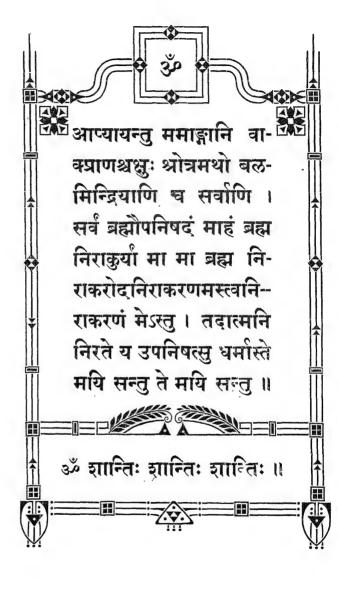
इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमइंसपरिवाजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-

त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥







॥ श्रीः ॥

॥ वर्णानुक्रमणिका ॥

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------------|---|---------------------|---------|
| अ | | अथ खल्द्गीथाक्षरा • | ३ ३ |
| अग्निहिकारो | 198 | अथ खत्वमुमादित्यः | 6.8 |
| अग्निष्टे पादं वक्तेति | २२५ | अथ खल्वात्मसंमितम० | 909 |
| अजा हिंकारोऽवयः | 992 | अथ खल्वाशीः | 38 |
| अतो यान्यन्यानि | ३२ | अथ खल्वेतयर्चा पच्छ | २७३ |
| अता यान्यन्यानः परस्ता | | अथ जुहोति नम | 934 |
| • | 938 | अथ जुहोति नमो | 938 |
| ः, ः अत्स्यन्नं पश्यसि प्रिय | | अथ जुहोति नमोऽमये | 933 |
| | 399 | अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य | 948 |
| " | ३२० | अथ प्रतिसुप्याञ्जलौ | २७२ |
| . , , ,, | , ` ३२१ | अथ य आत्मा म सेतु | ० ४९० |
| | , · · · ; · · · ; · · · · · · · · · · · | अथ य इमे ग्राम | २९६ |
| भ भ | | अथ य एतदेवं | ३३० |
| अथ खलु य उद्गीय | 88 | अथ य एतदेवं विद्वा | साम ५३ |
| भ भ | | अथ य एव संप्रसादो | |
| अथ खलु व्यानमेवो | - 1 | | |

s. u. iv. 23

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-------------------------|---------|-------------------------|---------|
| अथ य एषोऽन्तरिक्षणि | 6 9 | अथ यदश्राति | 166 |
| अथ यचतुर्थममृतं | 948. | अथ यदास्य वाड्यनिस | 808 |
| अथ यत्तदजायत | 986 | अथ यदि गन्धमाह्यलो | ४८२ |
| अथ यत्तपो दान 🔩 | 966 | अथ यृदि गीतवादित्रलो | ४८२ |
| अथ यत्तृतीयममृतं | १५२ | अथ यदि तस्याकर्ता | 800 |
| अथ यत्पञ्चमममृतं | १५५ | अथ यदिदमस्मिन्ब्र ० | ४७२ |
| अथ यत्प्रथमास्तमिते | 900 | अथ यदि भ्रातृलोकका• | 861 |
| अथ यत्प्रथमोदिते | 9,0 | अथ यदि महजिगमिषे० | २७१ |
| अथ यहैतत्पुरुषः | ३८० | अथ याद मातृलोककामो | 861 |
| अथ यत्रैतदबलिमानं | ५०३ | अथ यदि सखिलोककामो | ४८२ |
| अथ यत्रैतदस्माच्छरी • | 408 | अथ यदि सामतो | २५४ |
| अथ यत्रैतदाकाश० | ५४२ | अथ यदि स्त्रीलोककामो | 863 |
| अथ यत्नोपाकृत | २५१ | अथ यदि स्वसृहोकका॰ | ४८२ |
| अथ यत्संगववेळाया ४ | ९८ | अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं | २४६ |
| अथ यत्संप्रति मध्यंदिने | 30 | अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिना० | ?? |
| अथ यत्सत्रायणमित्या० | 888 | अथ यदूर्ध्वमपराह्ना॰ | 99 |
| अथ यदतः परो दिवो | 988 | अथ यदेतदक्ष्णः गुक्कं | ५१ |
| अथ यदनाशकायनमि० | 898 | अथ यदेतदादित्यस्य | ×£ |
| अय यदवोचं भुवः | 962 | अथ यदेवैतदादित्यस्य | 80 |
| अथ यदवोचं भूः | 162 | अथ यद्वितीयममृतं | 141 |
| अथ यदवोच स्तः | 142 | अथ यदसति | 166 |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते | ४९३ | अथ सप्तविघस्य वाचि | ९५ |
| अथ यद्यन्नपानलोककामो | ४८२ | अथ ह्र्सा निशायाम• | २०४ |
| अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तः | ४५१ | अथ ह चक्षुरुद्गी० | २२ |
| अथ यद्येनमूष्मसूपा• | 198 | अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष० | २६४ |
| अथ या एता हृदयस्य | بره ه | अथ ह प्राणा अह ५ श्रे॰ | २६ १ |
| अथ यां चतुर्थी | ३२९ | अथ ह मन उद्गीय॰ | ३२ |
| अथ यां तृतीया | ३२८ | अथ ह य एतानेवं | ₹ 9 • |
| अथ यां द्वितीयां | ३२८ | अथ ह य एवायं | २३ |
| अथ यो पञ्चमी | ३२९ | अथ ह वाचमु॰ | २२ |
| अथ यानि चतुश्चत्वा० | 164 | , | २१५ |
| अथ यान्यष्टाचत्वारि ५ श० | १८६ | अथ ह श्रोत्रमुद्गी • | २२ |
| अथ ये चास्येह जीवा॰ | ४८५ | अथ हामयः समूदिरे | २३५ |
| अथ येऽस्य दक्षिणा | 183 | अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव | ५१९ |
| अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो | 1 የዩ | अथ हैनं गाईपत्या | २३८ |
| अथ येऽस्योदञ्चा | 984 | अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद | ७३ |
| अथ येऽस्योर्ध्वा | 988 | अथ हैनं पस्तोतोपससाद | 99 |
| अथ यो वेदेदं मन्वानीति | 488 | अथ हैनं यजमान | . 60 |
| अथ योऽस्य दक्षिणः | 988 | अथ हैनं वागुवाच | २६५ |
| अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुषिः | 980 | अथ हैन ५ श्रोत्रमुवाच | २६५ |
| अथ योऽस्योदङ्सुधिः | १६७ | अथ हैनमन्वाहार्यपचनो | 3 ¥• |
| अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः | 186 | अथ हैनमाहवनीयो | 481 |

| | १ ष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|----------------|--------------------------|---------|
| अथ हैनमुद्गातोपससाद | ७२ | अन्तरिक्षोदरः कोशो | 205 |
| अय हैनमृषभोऽभ्युवाद | २२३ | अन्नं वाव बलाद्भूय० | 830 |
| अथ होवाच जनर | ३२० | अन्नमय५ हि सोम्य | र इ ६ ७ |
| अथ होवाच बुडिलमा० | ३२१ | " | ३६४ |
| अथ होवाच सत्ययज्ञं | 316 | अन्नमाशितं त्रेधा विधी० | ३६३ |
| अथ होवाचेन्द्रसुम्नं | ३१९ | अन्नमिति होवाच | ७३ |
| अथ होवाचोदालक ॰ | ३२२ | अन्यतरामेव वर्तनी 🗨 | २५० |
| अथात आत्मादेश | ४६३ | अपां का गतिरित्यसौ | 40 |
| अथातः शौव उद्गीय० | ७५ | अपाय सोम्य पीयमानानां | ३६६ |
| अथाधिदैवतं | २९ | अपाने तृष्यति वाक्तृ० | ३२८ |
| अथाध्यात्मं प्राणो | २१४ | अभिमन्थति स हिंकारी | م د لر |
| अथाध्यातमं य एवायं | 82 | अभ्रं भूत्वा मेघो भवति | ३०२ |
| अथाध्यात्मं वागेवक्प्रीणः | المراه | अभ्राणि संप्रवन्ते | १०९ |
| अथानु किमनुशिष्टो | २७८ | अमृतत्वं देवेभ्य | 116 |
| अथानेनैव ये चैतस्मा० | ५३ | अयं वाव लोको | 50 |
| अथावृत्तेषु द्यौर्हिकार | ८७ | अयं वाव स योऽयमन्त | १९६३ |
| अथैतयो: पथोर्न कतरेण | ३०८ | अयं वाव स्योऽयमन्तर्ह्यः | १६३ |
| अथोताप्याहुः साम | 85 | अरिष्टं कोशं | 161 |
| अधीहि भगव इति | ४१६ | अशनापिपासे में सोन्य | ३७७ |
| अनिरुक्तस्त्रयोदशः | 90 | अशरीरो वायुरभ्रं | 436 |
| अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः | * & | असौ वा आदित्यो ' | १३९ |
| | | | |

| | पृ ष्ठम् | | प्र ष्ठम् |
|-------------------------|---------------------|----------------------------------|------------------|
| असौ वाव छोको | २८२ | इति तु पञ्चम्यामाहुता• | 560. |
| अस्य यदेका ५ शाखां | 253 | इदं वाव तज्ज्येष्ठाय | 146 |
| अस्य लोकस्य का गति० | ६१ | इदमिति ह प्रतिजशे | २४२ |
| अस्य सोम्य महतो | 399 | इमाः सोम्य नद्यः | ३८९ |
| आ | | इयमेवर्गमिः साम | 84. |
| आकाशो वाव तेजसो | ¥¥₹ | उ | |
| आकाशो वै नाम | ५४९ | उदशराव आत्मानम• | ५१२ |
| आगाता ह वै | 26 | उदाने तृप्यति त्वक्तु• | ३२९ |
| आत्मानमन्तत उपसुत्य | ३६ | उद्गीथ इति त्र्यक्षरमु• | 802 |
| आदित्प्रवस्य रेतसः | 990 | उदालको हारुणिः | 303 |
| आदित्य इति होवाचः 🗸 | ७३ | उद्यन्दिकार उदितः 🔍 | 308 |
| आदित्य ऊकारो | 98 | उपको स लो ह वै | २३३' |
| आदित्यमथ वैश्वदेवं | 934 | उपमन्त्रयते स हिंकारो | 908 |
| आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः | 198 | 来 | |
| आदिरिति द्यक्षरं | 909 | ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि | ४१६ |
| आपः पीतास्त्रेधा विधी० | ३६३ | ऋतुषु पञ्चविधः | ९१ |
| आपयिता इ वै | 94 | ए | |
| आपो वावान्नाद्भृयस्त० | ४३९ | एकवि | 903 |
| आप्नात हादित्यस्य | 903 | एत संयद्वाम इत्याच | २४५ |
| आशा वावः स्मराद्भयः | አ አ ଜ | एतद्ध समवै तद्विद्वा ५स | ३ ६ ० |
| . . | | एतद्ध स्म वै तिद्वद्वानाह | 169 |

| | मृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---|--|--|------------------------------------|
| एतमु एवाहमभ्यगासिषं | 89 | एषां भूतानां पृथिवी | 99 |
| 27 77 | ४३ | ओ | |
| एतमृग्वेदमभ्यतप ५० | 888 | ओ३मदा३मी३ | 60 |
| एतेषां मे देहीति | ६५ | ओमित्येतदक्षरमु० | 9 0 |
| एव ५ सोम्य ते घोडशानां | ३७१ | ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमु• | ३७ |
| एवमेव खलु सोम्य | ३९२ | औ | |
| एवमेव खलु सोम्या० | ३६६ | औपमन्यव कं त्वमा• | ३१६ |
| एवमेव खलु सोम्येमा: | ३८९ | क | |
| एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच | ६९ | कं ते काममागायानीत्येष | ५३ |
| एवमेवैष मघवन्निति | ५२२ | कतमा कतमर्कतम • | 12 |
| | | | |
| 27 27 | ५२८ | कल्पन्ते हास्मा ऋतव | 31 |
| " " एवमेवैष संप्रसादो | ५२८ ५३९ | कल्पन्ते हास्मा ऋतव कल्पन्ते हास्मे | 31 |
| | | | |
| एवमेवैष संप्रसादो | ५३९ | कल्पन्ते हास्मै | 66 |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्गातारमुवा० | ५३९ ६८ | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति | ८८ ५७ |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्गातारसुवा० एवमेषां लोकानामासां | ५३९ ६८ २५४ | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति कुतस्तु खळु | 25 49 388 |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्गातारसुवा० एवमेषां लोकानामासां एष उ एव भामनीरेष | 439 66 248 286 | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति कुतस्तु खछ क तर्हि यजमानस्य | 40 \$\frac{2}{3}\$ \$\frac{2}{3}\$ |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्गातारसुवा॰ एवमेषां लोकानामासां एष उ एव भामनीरेष एष उ एव वामनीरेष | 438 66 248 286 284 | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति कुतस्तु खछ क तर्हि यजमानस्य ग | 26 49 388 839 |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्धातारसुवा० एवमेषां लोकानामासां एष उ एव भामनीरेष एष उ एव वामनीरेष एष तु वा अतिवदति | 438 66 248 286 284 843 | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति कुतस्तु खळु क तर्हि यजमानस्य ग गायत्री वा इद सर्वे | 26 49 388 839 |
| एवमेवैष संप्रसादो एवमेवोद्गातारसुवा । एवमेषां छोकानामासां एष उ एव भामनीरेष एष उ एव वामनीरेष एष उ एव वामनीरेष एष उ वा अतिवदित एष म आत्मान्तईदये | 438 62 248 286 284 843 996 | कल्पन्ते हास्मै का साम्नो गतिरिति कृतस्तु खळु क तर्हि यजमानस्य ग गायत्री वा इद सर्वे गोअश्वमिह महिमेत्या • | 26 49 388 839 |

| | <u>पृष्ठम्</u> | | पृष्ठम् |
|----------------------------|----------------|-------------------------|---------|
| चक्षुद्दोंचकाम | २६३ | त १ होवाच किंगोत्रो | २२. |
| चित्तं वाव संकल्पाद्भृयो | 825 | त होवाच नैतदब्राह्मणे | 1229 |
| ज | | तं र होवाच यं वै | 388 |
| जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः | २•३ | त ५ होवाच यथा | ३७१ |
| ं त | | त ५ होवाच यथा सोम्य | ३६९ |
| तं चेदेतरिमन्वयसि | 168 | त इमे सत्याः कामाः | 85X |
| ,, ,, | १८५ | त इह व्याघो वा सि ५ हे | ो ३८७ |
| " " | 168 | त एतदेव रूपमभि॰ | 988 |
| तं चेद्रू युरिसम् श्रेदिदं | ४७५ | ,, ,, | 141 |
| तं चेद्र्युर्यदिदमस्मि० | 808 | " " | 142 |
| तं जायोवाच तप्तो | २३३ | ,, ,, | 148 |
| तं जायोवाच हन्त | 80 | 33 33 | 944 |
| तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद | २२९ | तत्रोद्गातृनास्तावे | ६७ |
| तं वा एतं देवा | 484 | तथामुष्मिँ छोके लोक | ६३ |
| त ५ ह ५स उपनिपत्याभ्यु | ०२२७ | तथेति ह समुपविविद्युः | 48 |
| त ५ ह चिरं वसेत्या ० | २८• | तदुताप्याहुः साम्नैनमु॰ | CY |
| त ५ इ प्रवाहणो | & 0 | तदु ह जानश्रुतिः पौ० | २०६ |
| त" ह शिलकः | 46 | " | २०९ |
| त*् हाङ्गिरा | २६ | तदु ह शौनकः कापेय: | २१६ |
| तथ हाम्युवाद रैकेदथ | 219 | तदेतचतुष्पाद्रहा | 993 |
| त ५ हैतमतिधन्वा | 48 | तदेतन्मिथुनमो० | 18. |

| • | वृष्ठम् | ; | पृष्ठम् |
|-----------------------|---------|---------------------------|--------------|
| तदेष श्लोकः | ५०५ | तद्यहक्तो रिष्येद्धः | २५३ |
| तदेष श्लोको न पश्यो | ४६६ | तद्यद्धक्तं प्रथममागच्छे० | ३२६ |
| तदेष श्लोको यदा | २७५ | तद्यद्रजतः सेयं | 986 |
| तदेष श्लोको यानि | 998 | तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं | 94 |
| तदेक्षत बहु स्यां | ३४७ | तद्यक्षरत्तदादित्यमभितो व | 188 |
| तद्भैतत्सत्यकामो | २७० | " | 184 |
| तद्वैतद्धोर आङ्गिरसः | 168 | 7, ,, | 144 |
| तद्वैतद्वसा प्रजापतय | 940 | " | 143 |
| " | ५५१ | ,, ,, | 9,82 |
| तद्धोभये देवासुरा | ५०७ | तमग्निरभ्युवाद सत्य० | २२५ |
| तद्य इत्थं विदुः | २९२ | तमु ह परः प्रत्युवाच | २०५ |
| तद्य इह रमणीयचरणा | 300 | तमु ह परः प्रत्युवाचाह | , २,१ ० |
| तद्य एवैनं ब्रह्मलोकं | ४९२ | तयोरन्यतरां मनसा | २५० |
| तद्य एवैतावरं च | ४९६ | तसा आदित्याश्च | १३ ६. |
| त्द्यत्यथममृतं | १४८ | तस्मा उ ह ददुस्ते | २१७ |
| तद्यत्नैतत्सुप्तः | ५०२ | तस्मादप्यचेहाददान० | ५१७ |
| 77 77 | ५२७ | तस्मादाहुः सोष्यत्य० | 968 |
| तद्यथा महापथ आतत | ५०१ | तस्मादु हैवंविद्यद्यपि | ३३१ |
| तद्यथा लवणेन | २५४ | तस्माद्वा एत ५ सेतुं | 899 |
| तद्यथेषीकात्लमभौ | ३३९ | तरिमन्निमानि सर्वाणि | . ९६ |
| तद्यथेइ कर्मजितो लोकः | 908 | तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ | २८३ |

| | वृष्टम् | | रे बर्म |
|----------------------------|--------------|-------------------------------|-------------------|
| तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ | २८५ | ता आप ऐक्षन्त | 386 |
| 77 77 | २८६ | तानि वा एतानि यजूर् | 983· |
| 29 29 | २८७ | तानि वा एतानि सामा० | १४४ : |
| ; 33 33 | २८८ | तानि ह वा एतानि | ४२६ |
| तिस्मन्यावत्संपातमु ० | २९९ | तानि इ वा एतानि | ४२९ |
| तस्मै श्वा श्वेतः | ७५ | तानि ह वा एतानि त्री० | 866 |
| तस्य क मूल १ स्याद ० | ₹ ७ ९ | तानु तत्र मृत्युर्यथा | 36 |
| . ,, | ३८२ | तान्यभ्यतपत्तेभ्यो | 930 |
| तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम | १८० | तान्होवाच प्रातर्वः | ३ १ ५, |
| तस्य यथा कप्यासं | 86 | तान्होवाचाश्वपतिर्वै | ३१३ |
| तस्य यथाभिनहनं | ३९९ | तान्होवाचेहैव | 98 |
| तस्य ये प्राञ्चो | 980 | तान्होवाचैते वै खलु | ३२३ |
| तस्यक्चे साम च | 86 | तावानस्य महिमा | १६२ |
| तस्य ह वा एतस्य | १६५ | तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां | ३५५ |
| तस्य ह वा एतस्यात्मनो | ३२४ | तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकै० | ३५६ |
| तस्य ह वा एतस्यैवं | ४६५ | तेजसः सोम्याश्यमानस्य | ३६७ |
| तस्या ह मुखमुपोदृह्वन्नु ० | २११ | तेजो वावाद्रयो भूयस्त० | ४४१ |
| तस्येषा दृष्टिर्यत्रैत ० | 909 | तेजोऽशितं त्रेघा विधी० | ३६४. |
| त्रयी विद्या हिंकार० | 994 | तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः | 393 |
| त्रयो धर्मस्कन्धा | 121 | तेन त एह बको | २७ |
| त्रयो होद्गीथ | • بربر | तेन त ए ह बृहस्पति • | . ['] २७ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---|---|---|---------------------------------|
| तेन त ्रहायास्य | २७ | द | • |
| तेनेयं त्रयीविद्या | 9 & | दघ्नः सोम्य मध्यमानस्य | ३६६ |
| तेनोभौ कुरुतो | 99 | दुग्धेऽसमै वाग्दोहं | 6. |
| ते यथा तत्र न विवेकं | ३८६ | " | 94 |
| ते वा एते गुह्या | १४६ | देवा वै मृत्योर्बिभ्यत० | ३७ |
| ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस० | 984 | देवासुरा ह वै | १ % |
| ते वा एते पञ्चब्रहा० | १६८ | चौरेवर्गादित्यः | 88 |
| ते वा एते रसाना ५ | १४६ | चौरेवोदन्तरि श्चं | ३३ |
| तेषां खल्वेषां भूतानां | ३५२ | घ | |
| ते ह प्राणाः प्रजापतिं | २६२ | ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो | ¥31 |
| ते ह नासिक्यं | २० | ***** | |
| 4 6 4110114 | 40 | न | |
| ते ह यथैवेद० | ७७ | न नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः | ४६ |
| | | | ४६ ५२४ |
| ते ह यथैवेद० | ७७ | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः | |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुद्दा० | ७७ ३१२ | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते | ५२४ |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुद्दा० ते होचुरुपकोसलैषा | ७७ ३ १ २ २४२ | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते | 42¥ 42¥ |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुद्दा० ते होचुरुपकोसलैषा ते होचुर्येन हैवार्थेन | 99 3 ? ? 2 8 ? 3 9 8 2 9 8 | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते ,, ,, न वै तत्र न निम्लोच | ५२४ ५२४ १५६ |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुहा० ते होचुरुपकोसलैषा ते होचुर्येन हैवार्थेन तो वा एती द्वी | 99 3 ? ? 2 8 ? 3 9 8 2 9 8 | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते ,, ,, न वै तत्र न निम्लोच न वै नूनं भगवन्तस्त० | 428 428 946 338 |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुदा० ते होचुरुपकोसलैषा ते होचुर्येन हैवार्येन तौ वा एतौ द्दौ तौ ह द्वात्रिर्श्यतं वर्षाण | 99 3 ? ? 2 8 ? 3 ? 8 2 ? 8 4 o ? | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते ,, ,, न वै तत्र न निम्लोच न वै नूनं भगवन्तस्त ० न वै वाचो न चक्ष्र्रिष | ५२४ ५२४ १५६ ३३९ २६५ |
| ते ह यथैवेद० ते ह संपादयांचकुरुहा० ते होचुरुपकोसलैषा ते होचुर्येन हैवाथेंन तो वा एती द्वी तो ह द्वात्रि॰ शतं वर्षाणि तो ह प्रजापतिरुवाच | 99 3 | नक्षत्राण्येवक्चेन्द्रमाः न वधेनास्य इन्यते ,, ,, न वै तत्र न निम्लोच न वै नूनं भगवन्तस्त० न वै वाचो न चक्ष्र्र्षि न स्विदेतेऽप्युच्छि० | 428 428 946 336 4 |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-------------------------|---------|-------------------------------|---------|
| नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद | :898 | प्रस्तोतर्या देवता | ६८ |
| निधनमिति त्र्यक्षरं | 902 | प्राचीनशाल औपमन्यवः | ३११ |
| नैवैतेन सुरभि | २५ | प्राण इति होवाच | 99 |
| न्यग्रोधफलमत आहरे० | ३९४ | प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थ: | १९४ |
| प | | प्राणे तृष्यति चक्षुस्तृष्यति | ३२६ |
| पञ्च मा राजन्यवन्धु: | २७८ | प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः | : ९३ |
| परोवरीयो हास्य | 98 | प्राणो वा आशाया | 888 |
| पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि० | २८५ | प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि | ४५२ |
| पशुषु पञ्चविधः | ९२ | प्राप हाचार्यकुलं , | २३१ |
| पुरा तृतीयसवनस्यो० | १३५ | ब | |
| पुरा प्रातरनुवाकस्यो ० | १३२ | बलं वाव विज्ञानाद्भूयो | ४३५ |
| पुरा माध्यंदिनस्य | १३४ | ब्रह्मणः सोम्य ते पादं | २२५ |
| पुरुष" सोम्योत | ४०६ | ", " | २२७ |
| पुरुष ५ सोम्योतोपतापिनं | 808 | 77 77 | २२९ |
| पुरुषो वाव गौतमामि० | २८७ | ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति | २२३ |
| पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य | 963 | ब्रह्मवादिनो वदन्ति | 939 |
| पृथिवी वाव गौतमाग्नि० | २८६ | ब्रह्मविदिव वै सोम्य | २३१ |
| पृथिवी हिंकारोऽन्त० | 999 | भ | |
| प्रजापतिलेंकानभ्य ० | 928 | भगव इति ह प्रतिशुश्राव | २४२ |
| ;, ;; | २५२ | भगवार स्त्वेव मे सर्वै० | 90 |
| प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो | 396 | भवन्ति हास्य पशवः | ९२ |

| | पृष्ठम् | | व्यम् |
|-------------------------|---------|-----------------------|-------|
| मघवन्मत्ये वा इदः | ५३० | यथारमानमाखणमृत्वा | २४ |
| मटचीहतेषु कुरुष्वा० | ६४ | यथा सोम्य पुरुषं | 399 |
| मदुष्ट पादं वक्तेति | २२९ | यथा सोम्य मधु मधुकृतो | ३८६ |
| मनो ब्रह्मेत्युपासी० | १९२ | यथा सोम्यैकेन | ३३७ |
| मनोमय: प्राणशरीरो | 908 | यथा सोम्यैकेन नखनि० | ३३९ |
| मनो वाव वाचो भूयो | ४२३ | यथा सोम्येकेन लोह० | ३३८ |
| मनो हिंकारो | 808 | यथेह क्षुधिता बाला | ३३२ |
| मनो होचकाम | २६३ | यदमे रोहित ५ रूपं | ३५७ |
| मानवा ब्रह्मैवैक० | २५५ | यदादित्यस्य रोहित ५ | ३५८ |
| मासेभ्यः पितृलोकं | २९८ | यदाप उच्छुष्यन्ति | २१४ |
| मासेभ्यः संवत्सरः | २९२ | यदा वा ऋचमाप्नो० | 38 |
| य | | यदा वै करोत्यथ | ४५७ |
| यं यमन्तमभिकामी | ४८३ | यदा वै निस्तिष्ठत्यथ | ४५६ |
| य आत्मापहतपाप्मा | ५०६ | यदा वै मनुतेऽथ | ४५५ |
| य एष स्वप्ने महीयमान ० | ५२३ | यदा वै विजानात्यथ | ४५४ |
| य एषोऽक्षिणि पुरुषो | २४४ | यदा वै श्रहाधात्यथ | ४५६ |
| यचन्द्रमसो रोहित ५ | ३५८ | यदा वै सुखं लभतेऽथ | ४५७ |
| यत्र नान्यत्पश्यति | ४५९ | यदुदिति स उद्गीथो | ९५ |
| यथा कृतायविजिताया ० | २०५ | यदु रोहितमिवाभूदिति | ३६१ |
| ", | २०७ | यद्वविज्ञातमिवाभूदि० | ३६१ |
| यथा विलीनमेवाङ्गास्या • | ₹, & € | यद्विद्युतो रोहित र | ३५८ |

| ; | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|--------------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं | 989 | ला३कद्वारमपावा ३र्णू | 138 |
| यद्वे तद्वहोतीदं | 9 & 3 | ,, ,, | १३२ |
| यस्तद्भेद स वेद | 118 | ,, ,, | 934 |
| यस्यामृचि तामृचं | ३५ | लोकेषु पञ्चविध 🌂 | ८६ |
| या दिशमभिष्टोष्य० | ३६ | लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्त | ावो ११३ |
| या वाक्सर्कस्माद० | ३१ | व | |
| यावान्वा अयमाकाश • | ४७४ | वर्षति हास्मै | 25 |
| या वै सा गायत्रीयं | 980 | वसन्तो हिंकारो | 110 |
| या वै सा पृथिवीयं | 189 | वसिष्ठाय स्वाहेत्यशा० | २७२ |
| येन च्छन्दसा | ३५ | वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः | 993 |
| यो वै भूमा तत्सुखं | ४५८ | वागेवक्प्रीणः | 22 |
| योषा वाव गोतमाग्नि० | 266 | वांग्वाव नाम्नो भूयसी | ४२१ |
| यो इ वा आयतनं | २६१ | वायुर्वाव संवर्गी | २१३ |
| यों ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च | २५ ९ | विज्ञानं वाव ध्यानाद | ूयो ४३३ |
| यो ह वै प्रतिष्ठां वेद | २६० | विनर्दि साम्रो वृणे | 110 |
| यो इ वै वसिष्ठं वेद | २६० | नृष्टौ पञ्चविध ः | 68 |
| यो इ वै संपदं वेद | २६१ | वेत्थ यथासौ लोको | २७ ७ |
| र | | वेतथ यदितोऽधि | २७६ |
| रैकेमानि षट्शतानि | २०९ | व्याने तृप्यति श्रोत्रं | ३२८ |
| . ऌ | | . श | |
| ल बफ्भेतदुद केऽवधायाय | ३१६ | स्यामाच्छबलं प्रपद्ये | ५४७ |

| 9 | ग ष्ठम् | | | वृष्ठम् |
|-------------------------|----------------|-----------------|--------------|---------|
| अत्र होव में भगवद्दशे • | १३२ | स ब्रूयानास्य ज | रयैत ०् | ४७६ |
| • | २६३ | समस्तस्य खलु स | | 63 |
| | 98 | समान उ एवायं | • | . ३० |
| | لر ه | समाने तृप्यति स | गन ० | ३२९ |
| A . | ७६ | स य आकारां ब्र | होत्यु ० | 888 |
| | ३३५ | स य आशां ब्रहे | ात्युपास्त | ४४८ |
| | ३३७ | स य इदमविद्वा | निम ० | ý ý o |
| ष | | स य एतदेवं वि | ाद्वान ० | ३९ |
| षोडशकलः सोम्य | १६८ | स य एतदेवं वि | द्वान्साघु | 0 64 |
| · स | | स य एतदेवमम् | रृतं वेद | 188 |
| संकल्पो वाव मनसो | ४२५ | ,• | ٠, | १५१ |
| स एतां त्रयीं विद्याम॰ | २५२ | ,, | ,, | १५२ |
| स एतास्तिस्रो देवता | २५२ | ;; | ,, | १५४ |
| स एवमेतद्रायत्रं | 908 | ,, | ,, | 944 |
| स एवाधस्तात्स उपरि. | ४६२ | स य एतमेवं वि | ৱাখ্ঞ্ঞ | २२४ |
| स एष परोवरीयानुद्गी० | ६२ | ,, | ,, | २२६ |
| स एष ये चैतस्माद• | ५२ | ,, | ,, | २२८ |
| स एव रसाना | 99 | ,, | ,, | २३• |
| स जातो यावदायुपं | २९१ | स य एतमेवं वि | वेद्वाना० | 199 |
| सत्यकामो ह जाबाली | २१९ | सय एतमेवं वि | द्वानुपास्ते | २३८ |
| सदेव सोम्येदसम् | ŧ¥۶ | * ** | " | ₹४• |

| | पृष्ठम् | १ ष्टम् |
|------------------------------|---------|------------------------------------|
| स य एतमेवं विद्वानुपास्ते | २४१ | स यथा शकुनि: सूत्रेण ३७६ |
| स य एवमेतत्साम | 994 | स यथोभयपाद्रजन्नथो० २५१ |
| म य एवमेतहृहदादित्ये | १०८ | स यदवोचं प्राणं १८१ |
| म य एवमेतद्यज्ञा० | 993 | स यदशिशिषति १८८ |
| स य एवमेतद्रथं० | 904 | स यदि पितरं वा मातरं ४५० |
| स य एवमेतद्राजनं | 998 | स यदि पितृलोककामो ४८१ |
| स य एवमेतद्वामदेव्यं | १०६ | स यंदि यजुष्टो रिष्येद्भुव: २५३ |
| स य एवमेतद्वैराजं | 990 | स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते ४३० |
| म य एवमेतद्वैरूपं | 109 | म यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते ४४२ |
| स य एवमेताः शक्वयों | 999 | स यावदादित्य उत्तरत १५५ |
| म य एवमेता रेवत्य: | 992 | स यावदादित्यः १५० |
| सं य एषोऽणिमैतदात्म्य० | ३८४ | स यावदादित्यः पश्चादुः १५४ |
| ,, ,, | ३८८ | स यावदादित्यः पुर॰ १५१ |
| 79 79 | 390 | स यावदादित्यो दक्षिणत १५२ |
| 77 75 | ३९५ | स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते ४३ १ |
| " " | ३९८ | स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ४२० |
| 23 23 | ४०३ | स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते ४३८ |
| " | ४०५ | स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त ४४० |
| स यः संकल्पं ब्रह्मेत्यु० | ४२७ | स यो वलं ब्रह्मेत्युपास्ते ४३५ |
| स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४४५ | स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते ४२४ |
| स यथा तत्र नादाह्ये ० | 800 | स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते ४२२ |

| | पृ ष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------------|-----------------|--------------------------------------|---------|
| स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते | 838 | म ह हारिद्रुमतं गौतम० | २२० |
| सर्वे खल्विदं ब्रह्म | १७३ | स हाशाथ हैनमुपससाद | ३७० |
| सर्वकर्मा सर्वकामः | १७७ | स हेभ्यं कुल्माषान्खा ० | EX |
| सर्वास्वप्सु पञ्चाविधर | ९० | स होवाच किं मेऽन्नं | २६८ |
| सर्वे स्वरा इन्द्रस्या० | 996 | स होवाच किं मे वासी | 5 & 6 |
| सर्वे स्वरा घोषवन्तो | 999 | स होवाच भगवन्त | 90 |
| स वा एष आत्मा हृदि | ४८६ | स होवाच महात्मनश्च० | २१५ |
| स समित्पाणिः पुनरेयाय | ५२० | स होवाच विजानाम्यहं | २३५ |
| " | ५२४ | सा ह वागुचकाम | २६२ |
| " | ५२७ | सा हैनमुवाच नाहमे० | २१९ |
| स ह क्षत्तान्विष्य ना० | २०८ | सेयं देवतैक्षत | ३५३ |
| स इ खादित्वाति ० | ६६ | सैषा चतुष्पदा षांडुधा | १६२ |
| स ह गौतमो राज्ञो | २७९ | सोऽधस्ताच्छकटस्य | २०८ |
| स इ द्वादशवर्ष उपेत्य | ३३६ | सोऽइं भगवो मन्त्रविदे० | ४१७ |
| स इ पञ्चदशाहानि | ३६९ | स्तेनो हिरण्यस्य सुरां | ३०९ |
| स ह प्रातः संजिहान | ६६ | स्मरो वावाकाशाद्भ्य स् त० | ४४५ |
| स इ व्याधिनानाशितुं | २३४ | ह | |
| स ह शिलकः | ५६ | हर्सस्ते पादं वक्तेति | २२७ |
| स ह संपादयांचकार | ३१२ | इन्ताहमेतद्भगवत्ती | 48 |

